मेरी नहीं

उपनिषदों की तो सुनों

स्वामी निरंजन

मेरी नहीं उपनिषदों की तो सुनों

स्वामी निरंजन

प्रकाशक : **निरंजन बुक् ट्रष्ट**
प्रथम मुद्रण : दीपावली, २०१३
मुद्रण एवं अलंकरण : **दिव्य मुद्रणी,** भुवनेश्वर -२ (उड़िसा)
फोन : 0674-2340136, 9437006566
प्रच्छद प्रस्तुति : **विभु**
मूल्य : **रु** 80/-

उपनिषत् क्रम

उपनिषत् क्रम

भूमिका

शरीर व्याधि निवृत्ति के लिये डाक्टर जो औषधि निर्धारित करता है वही रोगी के लिये उपादेय होती है । लाखों प्रकार की औषधि से उसका कोई प्रयोजन नहीं है । उसी प्रकार वेद में लाख मन्त्र है जिनमें ८०,००० कर्म काण्ड का प्रतिपादन करते हैं जो जीव के मल दोष की निवृत्ति हेतु प्रथम अनिवार्य है । जब निष्काम कर्म द्वारा जीव का मल दोष निवृत्त हो जाता है तब उसके विक्षेप दोष की निवृत्ति हेतु १६,००० मन्त्र उपासना काण्ड के प्रतिपादन करते हैं । जब जीव के मन में ब्रह्मजिज्ञासा जाग्रत हो जाती है तब उसके लिये ज्ञान कांड ४००० मन्त्र को प्रतिपादन करते हैं । जब आत्मबोध हो जाता है तब तब उस आत्मनिष्ठ ज्ञानी के लिये किसी प्रकार के कर्म उपासना, योगादि साधन करने की आवश्यकता नहीं रहती है –'**तस्य कार्य न विद्यते**' – गीता ।

इस अभिप्राय से मुमुक्षुओं के लिये महाभारत के शान्ति पर्व से गीता उपदेश को निकाल लिया एवं महाभारत के युद्ध नीति, राजनीति, पारिवारिक समस्या को छोड़ दिया गया है ।

जैसे धान के इच्छा करने वाले पुआल को छोड़कर केवल धान को ही ग्रहण करते हैं, इसी प्रकार स्वरूप ज्ञान सम्बन्धी मन्त्र को इस उपनिषद रत्न रूप ग्रन्थ में संकलन किया गया है ताकि ज्ञान इच्छुक साधक को कम समय में सम्पूर्ण उपनिषदों का सार एक ही स्थान पर प्राप्त हो सके ।

इसी तरह भक्तों की भगवान श्रीराम के प्रति अनन्य भक्ति जाग्रत रखने के लिये रामायण के अष्ट कांडों से 'लवकुश काण्ड' को अलग करदिया गया है । क्योंकि लवकुश कांड में लवकुश का पराक्रम एवं राम–लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव आदिकी सीता त्याग विषय सम्बन्ध में निन्दा एवं

तिरस्कार किया गया है । जो राम भक्त है उन्हें वह अश्रद्धा का कारण हो जाने की विशेष सम्भावना है । इस प्रकार सार वस्तु को ग्रहण कर अपने लिये अनुपयोगी का त्याग करना ग्रन्थ रचियता का दोष नहीं माना जाता है बल्कि यह साधना का ही एक अंग माना जाता है । किसी सत्य को प्रदिपादन करने के लिये अगर शास्त्रों के सिद्धान्तों का खण्डन करना पड़े तो उसे खण्डन न मानकर मण्डन मानना ही चाहिये, क्योंकि हमारा लक्ष्य तो सत्य के प्रदिपादन के लिये ही किया जा रहा है ।

जैसे १८ पुराण रचियता व्यासजी ने जिस पुराण की रचना की उसमें उसी देव को श्रेष्ठ एवं अन्य पुराण के देवों को गौण रूप कहा है, ताकि उसके भक्त की अपने देव में अनन्य भक्ति जाग्रत हो सके ।

साधु ऐसा चाहिये जैसे सूप सुभाव ।
सार सार को गहि लहे थोथा देय उड़ाय ।।

सूप के समान ही सच्चे साधु का लक्षण माना जाता है क्योंकि सूप में यह योग्यता मानी जाती है कि वह अपने में सार वस्तु को रखलेता है एवं असार, हलके पदार्थ को निकाल बाहर करदेता है । इसी प्रकार पूर्णज्ञानी जिज्ञासु के कल्याणार्थ शास्त्रों के विस्तार से थोड़े में सार वस्तु को प्रकाशित कर देते हैं ।

इस उपनिषद मन्त्र सार ग्रन्थ में भारतीय संस्कृत सन्थान बरेली से प्रकाशित १०८ उपनिषद के ३ खण्ड के द्वारा सहायता प्राप्त कि गई है । उसके लिये यह निरंजन मिशन आभारी है ।

इसके प्रुफ् संसोधन में विदुषी मिकारानी का विशेष योगदान रहा है, जिनकी सहायता से भाषा शैली सरल, सुगम, सुस्पष्ट होने में विशेष मदद मिली है । इस ग्रन्थ के प्रकाशन में एवं ग्रन्थ की सुन्दरता, छपाई, सिलाई के मूख्य कार्य में विभु दास का सहयोग विशेष सराहनिय है । लेखक सभी प्रेमियों का आभारी है । उपनिषदों का सम्पूर्ण ज्ञान करने के लिये भारतीय संस्कृत संस्थान, बरेली से सम्पर्क साधे ।

स्वामी निरंजन

कौषीतकि ब्राह्मणोंपनिषत्

- ✪ देख देख देखने वाले को तो देख ।
- ✪ जान जान जानने वाले को तो जान ।
- ✪ सुन सुन सुनने वाले को तो सुन ।
- ✪ तदेव ब्रह्म त्वम् विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।

हे आत्मन् ! वाणी संसार में एक दूसरे के विचारों के आदान–प्रदानार्थ आवश्यक है । किन्तु परमात्मा के लिये वाणी की उपयोगिता नहीं है क्योंकि वाणी द्वारा जो गुरु शिष्य के मध्य बताया जाता है, वह 'इदम्' रूप से, यह रूप से ब्रह्म नहीं है । वह मृत्युलोक से ब्रह्मलोक तक केवल अनित्य संसार का ही कथन है । अतः वाणी को जानने से कोई लाभ नहीं, प्रत्युत् वाणी को प्रेरित करने वाले आत्मा को जानना चाहिये ।

हे आत्मन् ! नासिका केवल बाह्य दुर्गन्ध–सुगन्ध के ज्ञानार्थ आवश्यक है, जिससे बाहरी दूषित वायुमण्डल को शुद्ध किया जाता है । किन्तु परमात्मा प्राप्ति हेतु गन्ध जानने की जरुरत नहीं है क्योंकि वह निर्गुण, निराकार, अशरीरी होने से गन्ध को जानने का प्रयत्न न करें बल्कि गन्ध ग्राहक आत्मा को जानना चाहिये ।

हे आत्मन् ! परमात्मा निराकार सब जीवों का आत्मा होने से उसे किसी रूप विशेष में जाना नहीं जा सकता । नेत्र तो बाह्य जगत में गति करने के लिये आवश्यक है किन्तु परमात्मा तो अगोचर, अप्रमेय होने से रूप को जानने का प्रयत्न व्यर्थ है,प्रत्युत् रूप के ज्ञाता आत्मा को जानना चाहिये ।

हे आत्मन् । शब्द के द्वारा अनित्य संसार का इतिहास लिखा जाता है । अन्धात्म में वेद पुराण द्वारा परमात्मा सम्बन्ध में बताया या निरुपण किया जाता है परन्तु सम्बन्ध में जानना स्वयं परमात्मा को जानना तो नहीं है वह तो अतर्क्य होने से मन, वाणी का विषय नहीं है । अतः शब्द को जानने की इच्छा व्यर्थ है,बल्कि शब्द के ज्ञाता आत्मा को जानना चाहिये, तभी जीव का कल्याण हो सकेगा ।

अन्न रस के ज्ञान की कामना व्यर्थ है, प्रत्युत् अन्न रस के ज्ञाता आत्मा को जानना चाहिये। कर्म को जानना व्यर्थ है,प्रत्युत् कर्म के कर्ता आत्मा को जानना चाहिये। सुख–दु:खों के ज्ञान की जिज्ञासा करना व्यर्थ है, अपितु सुख–दुःखों के जानने वाले और अनुभव करने वाले आत्मा को जानना चाहिये। मैथुन और उसके द्वारा मिलने वाले आनन्द को जानना व्यर्थ है, बल्कि उस क्रिया और आनन्द को जानने वाले आत्मा को जानना चाहिये। आने–जाने की क्रिया को जानने की इच्छा व्यर्थ है, प्रत्युत् गमनागमन के साक्षी आत्मा को जानना चाहिये। मन–बुद्धि को जानने की इच्छा न करें अपितु मन–बुद्धि के जानने वाले आत्मा को जानना चाहिये, जो स्वयं ही है ।

प्रज्ञा हीन अर्थात् चेतना रहित निर्जीव मानव की वाणी द्वारा किसी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता । प्रज्ञा हीन अर्थात् मृत पुरुष के नेत्र, रूप का ज्ञान नहीं कर सकते । प्रज्ञा हीन मृत पुरुष के श्रोत्र किसी भी शब्द को नहीं सुन सकते। प्रज्ञा हीन शव की घ्राणेन्द्रिय गन्ध बोध से शुन्य रहती है। प्रज्ञा हीन मृत पुरुष की जिह्वा अन्न रसों का स्वाद नहीं ले सकती। प्रज्ञा हीन मृत पुरुष के हाथ किसी कर्म का ज्ञान न होने से निष्क्रिय रहते हैं। प्रज्ञा हीन मृत देह किसी भी सुख–दु:ख का अनुभव करने में समर्थ नहीं है। प्रज्ञा हीन मृत पुरुष के उपस्थ द्वारा मैथुन क्रिया नहीं हो सकती। प्रज्ञा रहित मृत पुरुष के पाँव कहीं आने–जाने का ज्ञान नहीं रख सकते। प्रज्ञा अर्थात् चेतन आत्मा के बिना कोई बौद्धिक कार्य भी नहीं हो सकता।

(७,८,९ अध्याय तृतीय)

अध्याय १

तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते । तस्यं प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम् । तद्यथा स्थेन धावयन् रथचक्रे पर्यवेक्षत एवमहोरात्रे पर्यवेक्षत । एवं सुकृतदृष्कृते सर्वाणी च द्वंद्वानि स एष विसुकृते विदुष्कृतो ब्रह्म विद्वान् ब्रह्मैवाभि प्रैति । (कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत् ३)

जो उस ब्रह्म निष्ठ ज्ञानी से द्वेष रखते हैं ,उन्हें उसके त्यागे हुए पापान्श की प्राप्ति होती है, परन्तु उससे प्रेम रखने वाले कुटुम्बी आदि उसके पुण्याँश के भागी होते हैं। जैसे सूर्य के उदय–अस्त को देखने वाला व्यक्ति उससे पृथक् होता है, इसी प्रकार आत्मनिष्ठ ज्ञानी समस्त क्रियाओं का देखने वाला होने के कारण वह पुण्य–पाप से सम्बन्ध रहित रहता है।

जैसे रथारोही पुरुष अपने रथ को द्रुत गति से चलाता हुआ रथ चक्रों को देखता है, उस समय उन चक्रों का जो संयोग–वियोग पृथिवी से होता है, वह चक्रों को देखते रहने पर भी आरोही प्राप्त नहीं होता है । वैसे ही ब्रह्मज्ञानी पुरुष दिन–रात्रि को, पाप–पुण्य को तथा अन्य विभिन्न उचित–अनुचित दृश्यों को देखता है, परन्तु देखने वाला होने के कारण ही वह उनसे सम्बन्ध रहित रहता है । इसलिये पाप और पुण्य भी उसे व्याप्त नहीं करते । अतः ब्रह्मज्ञान के कारण वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।

सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद्बुधः ।
यदक्षरं पर ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ।।६।।

शिखा सहित मुण्डन करने के पश्चात् ज्ञानी को यज्ञोपवीत का त्याग देना चाहिये। जिसको अविनाशी परब्रह्म कहा जाता है वही इस सूत्र के रूप में है, यह समझकर उसी को हृदय में धारण करना चाहिये कि वही परब्रह्म मैं हूँ।

सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रंनाम परम पदम् ।
तन्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेद पारग ।।७।।

यज्ञोपवीत यह प्रकट करता है कि परब्रह्म हृदय में ही निवास करता है, इसलिए उसे सूत्र कहते है । सूत्र का अर्थ है परम–पद । इस सूत्र को जिसने जान लिया है कि 'वह ब्रह्म मैं हूँ', वही ब्राह्मण है, वही वेद का पारगामी है ।

येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
तत्सुत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्वदर्शिवान् ।।८।।

जिस प्रकार सूत्र में, धागे में माला के दाने पिरोये जाते हैं उसी प्रकार परब्रह्म में यह समस्त जगत पिरोया हुआ है । इसी से इसे सूत्र कहा जाता है । तत्त्व द्रष्टा और योगवेत्ता साधकों को 'मैं ब्रह्म हूँ' सोऽहम् रूपी सूत्र को धारण करना चाहिये ।

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ।
ते वै सूत्रविदो लोके ते यज्ञोपवीतिनः ।।१०।।

ज्ञान रूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले पुरुषों के हृदय में ब्रह्म रूप सूत्र रहता है। ऐसे व्यक्ति सूत्र के वास्तविक रूप को जानने वाले हैं और वे ही सच्चे यज्ञोपवीत को धारण करने वाले हैं ।

ज्ञान शिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ।।११।।

जो ज्ञान रूप शिखा वाले, ज्ञान में ही निष्ठा रखने वाले और ज्ञान रूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं उनको ज्ञान ही परम पवित्र बना देता है।

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयीशिखा ।
स शिखित्युच्यते विद्वानितरे केशधारिणः ।।१२।।

जिस पुरुष की अग्नि शिखा के समान ज्ञान की ही शिखा होती है, उनके लिये दूसरी शिखा होती ही नहीं और वे ही सच्चे शिखाधारी कहलाते हैं। इनके सिवाय अन्य लोग जो बाह्य केशों की चुटियाँ रखते हैं, वे शिखा धारी नहीं कहे जा सकते हैं ।

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।
तैः संधार्थ मिदं सूत्रं क्रियाङ्ग तद्धि वै स्मृतम् ।।१३।।

जो ब्राह्मण वैदिक कर्म जैसे यज्ञ, होम, दान, विवाह, मृतक संस्कार, अध्यापन, भूमि पूजन आदि के अधिकारी हैं, उन्हीं को यह जनेउ, बाह्य सूत्र धारण करना चाहिये, क्योंकि इसी को क्रिया अङ्ग बतलाया गया है । वे नाम मात्र के ब्राह्मण पेट पालनार्थ हैं उनमें ब्राह्मण नाम का कोई लक्षण नहीं है, वे कोटि जन्म में भी भव बन्धन से मुक्त नहीं हो सकेंगे ।

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवितं च तन्मयम्।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ।।१४।।

ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि जिनकी शिखा ज्ञान मय है और यज्ञोपवीत भी ज्ञान मय है उनका ब्राह्मणत्व ही सच्चा है। यह ज्ञान ही यज्ञोपवीत है, यही परम परायण है । इसलिये ज्ञानी पुरुष सच्चे यज्ञोपवीत धारी है ।

एको देव: सर्व भूतेषु गूढ़: सर्व व्यापि
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।१६।।

एक परमात्मा सब प्राणियों में गूढ़ सर्व व्यापी, सब भूतों का अन्तरात्मा, सब के कर्मों को नियम में रखने वाला, सब प्राणियों का निवास साक्षी, चैतन्य स्वरूप शुद्ध और निर्गुण है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा य: करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्ति: शाश्वती नेतरेषाम्।। १७।।

वह अकेला ही सबको वश में रखने वाला, सब भूतों का अन्तरात्मा है और अपने एक ही रूप को अनेक प्रकार से प्रकट करता है। इसको जो बुद्धिमान् मनुष्य अपने आत्मा रूप में स्थित देखते हैं, उनको ही नित्य रहने वाली शान्ति मिलती है, दूसरे जो परमात्मा के साथ भेद भक्ति करते हैं उनको वह अखण्ड शान्ति नहीं मिलती है।

ब्रह्मविद्या उपनिषत्

सकारं च हकार च जीवो जपति सर्वदा ।
नाभिरन्ध्राद्विनिष्क्रान्तं विषयव्याप्तिवर्जितम् ।।१६।।

नाभि रन्ध्र से स्वतः चलने वाला सोऽहम् जाप जीव में निरन्तर चलता रहता है । यह अजपा जाप या अनाहत नाद् विषयों से रहित है । और परम पवित्र है । इसका जाप जिह्वा द्वारा नहीं किया जाता है ।

हंस विद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम्।
यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पारमेश्वरीम् ।।२६।।

हंस रूपी विद्यामृत के समान इस जगत् में परमात्मा प्राप्ति का अन्य कोई साधन नहीं है। जो सद् गुरु इस हंस नाम की परमेश्वरी महाविद्या को अपने शिष्य को निष्काम भाव से प्रदान करता है–

तस्य दास्यं सदा कुर्यात प्रज्ञया परया सह।
शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि।। २७।।

तत्कुर्याद विचारेण शिष्य:संतोषसंयुक्त:।
हंसविद्यामिमां लब्ध्वां गुरु शुश्रूषया नर:।।२८।।

उस सद्गुरु की ज्ञान पूर्वक तन, मन, धन से श्रद्धा सहित सेवा करनी चाहिये। वह गुरु जो कुछ शुभ अथवा अशुभ आदेश दे उसका बिना विचारे संतोष युक्त हो शिष्य को श्रद्धा पूर्वक पालन करना चाहिये। इस हंस विद्या को गुरु से प्राप्त करके –

आत्मानमात्मना साक्षात्ब्रह्म बुद्धया सुनिश्चलम् ।
देह जात्यादि सम्बन्धान् वर्णाश्रम समन्वितान्।।२९।।

वेद शास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत्।
गुरु भक्तिं सदा कुर्याच्छ्रयेसे भूयसे नर:।।३०।।

आत्मा से आत्मा का साक्षात्कार कर, निश्वत्त ब्रह्म को जान कर, वर्णाश्रम जाति आदि के सम्बन्ध और वेद तथा शास्त्रों की बातों को नि:संकोच भाव से छोड़ दें, गुरु भक्ति और गुरु की सदा शुश्रूषा करे, इससे मनुष्य का सच्चा कल्याण होता है।

गुरुरेव हरि: साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुति:
क्षुत्या यदुक्तं परमार्थमेव। ३१।।

श्रुति में कहा गया कि गुरु ही साक्षात् हरि है, वह हरि से भिन्न कोई अन्य नहीं है।

तिलेषु च यथा तेलं पुष्पे गन्ध इवाश्चित:
पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन् स बाह्याभ्यन्तरे तथा:।।३५।।

जिस प्रकार तिलों में तेल, दूध में घृत, काष्ठ में अग्नि, पुष्प में गन्ध रहता है, वैसे ही पुरुष के शरीर में बाहर और भीतर, वही आत्म ब्रह्म सदा विद्यमान रहता है।

नापुत्राय प्रदातव्यं नाशिष्याय कदाचन ।
गुरुदेवाय भक्ताय नित्य भक्तिपराय च ।।४७।।

प्रदातव्यमिदं शास्त्रं नेतरेभ्यः प्रदापयेत् ।
दाताऽस्य नरकं याति सिध्यते न कदाचन ।।४८

यह विद्या न तो कभी अवज्ञाकारी पुत्र को देना चाहिये, न कभी अवज्ञाकारी शिष्य को देनी चाहिये। यह विद्या उसी को देना चाहिये जो गुरु का सच्चा सेवक हो अन्यथा अपात्र को विद्या दान करने वाला गुरु और शिष्य दोनों सीधे नरक को जायेंगे।

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोच भिक्षुकः ।
यत्र यत्र स्थितो ज्ञानी परमज्ञारवित्सदा ।।४९।।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी कोई भी हो और वह कहीं भी रहता हो, परम अक्षर तत्त्व को अर्थात् वह ब्रह्म मैं हूँ इस प्रकार जानने वाला सदैव ज्ञानी होता ही है और वह सर्वदा मुक्त ही है ।

स प्राणापानयोर्ग्रन्थिरजपेत्यभिधीयते ।
सहस्त्रमेकं द्ययुतं षट्शतं चैव सर्वदा ।
उच्चरन्पठितो हंस सोऽहमित्यभिधीयते ।।७९

प्राणियों के देह में स्थित प्राण और अपान की ग्रन्थि को 'सोऽहम्' अजपा जाप कहा जाता है । इससे नित्य इक्कीस हजार छः सौ जप करता हुआ हंस जीव 'सोऽहम्' अर्थात् ब्रह्म रूप हो जाता है ।

योगतत्त्वोपनिषत्

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते।
ज्ञान स्वरूप मेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैक साधनम्।। १६।।

अज्ञान से ही संसार है और ज्ञान द्वारा ही इससे निवृत्ति हो सकती है। ज्ञान स्वरूप ही आदि में है और ज्ञान द्वारा ही ज्ञेय की प्राप्ति हो सकती है।

ब्रह्मा,विष्णु, शिव, इन्द्र आदि देवताओं के ऐश्वर्य की इच्छा रखकर जो उपवास, जप, अग्निहोत्रादि से अपने अन्तरात्मा को अत्यन्त दुःख दे रहे हैं और अत्यन्त उग्र राग–द्वेष, हिंसा दम्भ आदि दुर्गुणों वाला जो तप करते हैं वे आसुरी स्वभाव वाले कहे जाते हैं उन्हें अगला जन्म असुर योनि में ही होना निश्चित हो चुका है। (गीता १७/५,६ श्लोक, निरालम्ब उप.)

एतेविघ्ना महासिद्धेर्न रमत्तेषु बुद्धिमान् ।
न दर्शयेत्स्वसामर्थ्य यस्यकस्यापि योगिराट् ।। ७६

हठ योग साधन से प्राप्त सिद्धि विघ्न रूप है । बुद्धिमान साधकों को इन सिद्धि प्रलोभन से बचना चाहिये और सिद्धि प्राप्त हो जावे तो भी उन्हें दूसरों को दिखाकर उनके जीवन की भी हत्या नहीं करना चाहिये । क्योंकि सिद्धि से द्वैत भाव दृढ़ होता है जो आत्म हत्या है ।

यथा मूढो यथा ह्यन्धो यथा बधिर एव वा।
तथा वर्तेत लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये ।। ७७

इसलिये उन सिद्धों को सर्व साधारण लोगों के सामने पागल, अन्ध, बेहरे, की तरह बन कर रहना चाहिये और उसे अपनी प्राप्त सिद्धियों

को गुप्त रखना चाहिये । क्योंकि सिद्धि द्वैतभाव को दृढ करती है तथा अहंकार को बढ़ाती है । हिंसा व ईर्षा भाव अन्य सिद्धों के प्रति होने लगता है । जो सिद्ध उससे छोटे हैं तो उनको देख अहंकार उत्पन्न होगा एवं जो सिद्ध उससे ज्यादा ऐश्वर्यवान् है उनके प्रति ईर्षा व हिन्सा भाव जाग्रत होता है । अतः सिद्धि मार्ग का सर्वथा त्याग ही करना साधक के लिये श्रेयस्कर होगा ।

यः स्तनः पूर्व पीतस्तं निष्पीड्यं मुदमश्नुते ।१३१
यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् ।।

यह जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ मनुष्य योनि में प्रवेश करता है । जन्म के समय यह जीव एक शरीर को मां रूप स्वीकार कर स्तन का पान करता है और फिर यह जीव यूवावस्था में दूसरे शरीर के स्तन को दबाकर मर्दन करता है व पुनः चूसन क्रिया कर प्रसन्नता का अनुभव करता है । अर्थात् यह मनुष्य पत्नी से मैथुन सम्बन्ध कर उसी के गर्भ में वीर्य रूप से स्थित होकर पुत्र रूप में पैदा होता है और उसे मां बनाकर स्तनपान करता है । यह स्त्री जिसे अपना पति कहती है उसे पुत्र रूप में पैदा कर अपने स्तन का पान कराती है । यह जीव एक शरीर योनि से जन्म ग्रहण करता है और फिर यही जीव युवावस्था में दूसरे शरीर के योनि द्वार में अपना लिंग डाल कर आनन्द का अनुभव करता है ।

या माता सा पुनः भार्या या भार्या मातरेव हि । १३२
यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ।
एवं संसार चक्रेण कूप चक्र घटा इव ।। १३३

एक जन्म में जो माता होती है अन्य जन्म में वह पत्नी बन जाती है । ऐसा राजा जनक ने योग सिद्धि द्वारा अपनी पत्नी को पूर्व जन्म की माँ रूप में देखा था । और जो भार्या होती है वह आने वाले जन्म में माता बन जाती है ।

जो पिता होता है वह पुत्र बन जाता है और पुत्र पिता बन जाता है । इस प्रकार यह संसार चक्र, कूपचक्र (पानी खींचने वाले रहट) के समान है । जिसमें प्राणी विभिन्न योनियों में आवागमन करता रहता है ।

सौबालबीजब्रह्मोपनिषन्नाप्रशान्ताय दातव्या न पुत्राय न शिष्याय न संवत्सररात्रोषिताय न परिज्ञाताकुलस्याय दातव्या नैव प्रवक्तव्या।

यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ।
तस्येते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन।
इत्येतन्निर्वणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ।१।

यह ब्रह्म का उपदेश उसे नहीं देना चाहिये जो अत्यन्त शान्त न हो, जो पुत्र न हो, जो शिष्य न हो और एक वर्ष गुरु के पास सेवा परायण होकर न रहा हो । ऐसे अनजान कुलशील वाले को भी यह विद्या नहीं देना चाहिये, क्योंकि जिसकी परमात्मा के ऊपर और परमात्मा के समान गुरु के ऊपर परम भक्ति हो उसी के लिये यह ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया गया है। ऐसे ही तत्त्वदर्शी महात्मा को यह ब्रह्म उपदेश करने का अधिकार है । ऐसी वेद की आज्ञा है।

जाबालदर्शनोपनिषत्

(प्रथम खण्ड)

यत्तच्छौचं भवेद्बाह्यममानसम् मननं विदुः।
अहं शुद्ध इतिज्ञानं शौचमाहुर्मनीषिणः।।२०।।

अत्यन्त मलिनो देहो देही चात्यन्त निर्मलः।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते।२१।।

ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः।
स मूढः कान्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृहणाति सुब्रत।२२।।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किन्चित् कर्तव्यं अस्ति चेन्न स तत्त्ववित्।।२३।।

मिट्टी और जल के द्वारा शरीर को पवित्र करना बाह्य शौच है। परन्तु ज्ञानीजन 'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ' ऐसा भाव रखने को ही सर्वोत्कृष्ट शौच कहते हैं। यह देह बाहर–भीतर दोनों और से मलिन है, परन्तु देह को धारण करने वाला आत्मा अत्यन्त स्वच्छ है। इस प्रकार देह और आत्मा के अन्तर का ज्ञान होजाने पर फिर किसे पवित्र किया जाय? ।।२०,२१।।

हे श्रेष्ठ व्रत वाले मुनीश्वर ! ज्ञान रूप पवित्रता को त्याग करके जो पुरुष बाहरी पवित्रता में ही रमा रहता है वह अज्ञानी स्वर्ण को त्याग कर मिट्टी के ढेलों का संग्रह करने वाले मूर्ख मानव के ही समान है। ज्ञानयोगी तो ज्ञान रूप अमृत से तृप्त होजाता है, संसार में उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता है। यदि कोई शेष समझे तो वह तत्त्वज्ञानी नहीं कहा जा

सकता है। आत्म ज्ञानी सन्तों के लिये तीनों लोकों में करने के लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है ।।२२,२३ ।।

चतुर्थ खण्ड

आत्म तीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो ब्रजेत्।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते।५०।।

यह आत्म तीर्थ सबसे बढ़कर है, जो मनुष्य इसका परित्याग कर बाह्य तीर्थों में भटकता है, वह मानों हाथ में रखे हुए बहुमुल्य रत्न को त्यागकर कांच को पकड़ता फिरता है।

तीर्थानि तोय पूर्णानि देवान् काष्ठादि निर्मितान्।
योगिनो न प्रपूज्यन्ते स्वात्म प्रत्यय कारणात्।।५२।।

योगीजन आत्म तीर्थ में श्रद्धा और विश्वास रखते हैं, इसलिये वे जलमय, गंगा, यमुनादि तीर्थों और काष्ठ, पाषाणादि, जलादि से निर्मित जगन्नाथ, राम, कृष्णादि प्रतिमाओं में नहीं भटकते फिरते हैं।

बहिस्तीर्थांन्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने ।
आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यतीर्थं निरर्थकम् ।।५३।

बाह्य तीर्थ से आन्तरिक तीर्थ अत्यन्त श्रेष्ठ है, यह महातीर्थ है, इसके सामने अन्य तीर्थ व्यर्थ है ।

चित्तमन्तर्गतं दृष्टं तीर्थास्नानैर्न शुद्धति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवशुचि ।।५४।

देह के भीतर निवास करनेवाला दूषित चित्त बाहरी तीर्थों में गोते लगाने मात्र से शुद्ध नहीं होता जैसे मदिरा का घड़ा उपर से सैकडोंवार शुद्ध जलसे धो लिये जाने है पर भी भीतर मदीरा के रहने से वह अपवित्र ही रहता है ।

ज्ञानयोग पराणां तु पाद प्रक्षालितं जलम् ।
भावशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिपुङ्गव ।।५६।।

अज्ञानी मनुष्यों के अन्तःकरण शुद्धि के लिये योग में तत्पर योगियों का चरण जल श्रेष्ठ तीर्थ है, उसे अमृत रूप जान प्रतिदिन सेवन करना चाहिये । यदि कोई घोर विषयासक्त व्यक्ति है, तो वह भी अपने कल्याण से निराश न होवे । वह भी इस ब्रह्मज्ञानी महापुरुष के चरणोदक का सेवन करने से शुभगति को ही प्राप्त होता है । अतः अज्ञानीयों के लिये चरण जल ही श्रेष्ठ तीर्थ रूप है ।

तीर्थे दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा।
शिवं पश्यति मूढ़ात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते।।५७।।

कल्याण रूप परमेश्वर इस देह में ही विराजमान है। उसे न जानने वाला मूर्ख तीर्थ, दान, जप, यज्ञ, काष्ठ और पाषाण में ही परमात्मा को खोजा करता है।

अन्त:स्थं मां परित्यज्य बहिष्ठं यस्तु सेवते।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्म:।।५८

अपने अन्तर में निरन्तर निवास करने वाले मुझ परमात्मा का निरादर करता हुआ जो जीव केवल मनुष्य द्वारा निर्मित बाह्य तीर्थ–मन्दिर में स्थूल प्रतिमाओं की सेवा–पूजा करता रहता है, वह मूर्ख तो हाथ में रखे हुए अन्न को त्याग कर अपनी कुहनी को चाटकर अपनी भूख मिटाना चाहता है।

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिन:।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमा: परिकल्पिता:।।५९।।

ज्ञानीजन तो परमात्मा के दर्शन अपने देह मध्य में ही करते हैं, प्रतिमाओं में कभी नहीं करते हैं । सुन्दर प्रतिमाओं की कल्पना तो इसीलिये की गई है कि उन्हें देखकर अज्ञानियों के हृदय में भगवान् के प्रति उत्तम भावना जाग्रत हो और वे भगवान् के प्रति अपने कल्याण की श्रेष्ठ भावना उदय कर सकें और पाप कर्म करने से डरते रहें ।

साधक को चाहिये कि वह इस देह के प्रति आत्म भाव का अर्थात् मैं भाव का त्याग करके यह निश्चय करे की 'मैं परमात्मा ही हूँ ।' जो पुरुष

उस आनन्दघन ब्रह्म को अपने ही भीतर आत्म रूप में दर्शन करता है वही यथार्थ रूप से अखण्ड सच्चिदानन्द परमात्मा का दर्शन करता है ।

दशम खण्ड

समाधिः संविदुत्पत्तिःपरजीवैकतां प्रति।।१।।

परमात्मा और जीवात्मा के एकीभाव अर्थात् सोऽहम् भाव के सम्बन्ध में निश्चयात्मक बुद्धि का प्राकट्य हो जाना ही ज्ञानियों की वास्तविक समाधि हैं।

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ।
एकः संभिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः ।।२।

तस्मादद्वैतमेवास्मि न प्रपञ्चो न संसृतिः ।
यथा आकाशो घटाकाशो मठाकाश इतिरितः।।३।।

तथा भ्रान्तैर्व्दिधा प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना।
नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि मनो नहि ।।४।

सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः ।
इति धीर्यां मुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते ।।५।

यह आत्मा नित्य, एकरस, सर्वव्यापी और सर्वदोषहीन है । वह एक होते हुए भी माया से उत्पन्न हुए भ्रम के कारण भीन्न भीन्न दिखाई देता है । इसलिऐ यह अद्वैत भाव से सत्य है, प्रपंच नामक किसी वस्तु का यहाँ कोई अस्तित्व नहीं है ।

जैसे आकाशको ही घटाकाश या मठाकाश कहते हैं , वैसे ही अज्ञानी एक ही ईश्वर को जीव और ब्रह्म इन दो नामों से मानते हैं। जो अपने को देह, प्राण, इन्द्रिय और मनादि नहीं मानते है, प्रत्युत् अपने को साक्षी आत्म स्वरूप में स्थित एकमात्र शिव रूप परमात्मा ही जानते हैं उनकी ऐसी निश्चयात्मिक बुद्धि को ही समाधि कहते हैं। (२–५)

सोहं ब्रह्म न संसारी न मत्तोऽन्यः कदाचन।
यथा फेन तरगांदि समुद्रादुत्थितं पुनः।।६।।

मैं परमेश्वर हूँ, जगत् के बन्धनों में फंसा हुआ कर्ता–भोक्ता जीव नहीं हूँ। मुझ से भिन्न किसी वस्तु का किञ्चित् भी अस्तित्व नहीं है। जैसे फेन और तरगें समुद्र से उछलकर फिर समुद्र में लीन हो जाती हैं वैसे ही यह दृश्य जगत् मुझसे ही उत्पन्न होकर पुन: मुझ में ही लीन हो जाता है। इस प्रकार जो पुरुष परमात्मा को अपने आत्मरूप से जानता है,वह अमृतमय परमात्म भाव को ही प्राप्त हो जाता है।

मैत्रेय्य उपनिषत्

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरम्
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्।।११।।

मनुष्य का चित्त जितना देह तथा बाहरी विषयों में आसक्त रहता है, अगर उतना अपने ब्रह्म स्वरूप में आसक्त होजाय तो यह जीव संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। सद्गुरु को चाहिये कि वह जिज्ञासु को बुद्धि के साक्षी परम प्रेमास्पद रूप स्वयं आत्मा का ज्ञान करावे।

वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभते ।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्तिः ।।१७

हे जिज्ञासु ! मुक्ति की कामनावाले मुमुक्षु को वर्ण, आश्रम आदि के धर्मों का परित्याग कर आत्मा में ही स्थिर रहनेवाले मनुष्य अपने आप में ही सन्तुष्ट एवं आनन्दित रहते हैं । वर्ण और आश्रम के धर्मों का पालन करनेवाले मूढ़ लोग ही अपने धर्म कर्मों का फल भोगते हैं ।

द्वितीय अध्याय

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः
त्यजेदज्ञान निर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ।।१।।

एक समय भगवान् मैत्रेय कैलाश पर्वत पर गए और वहाँ जाकर महादेव से उन्होंने कहा–हे भगवन्! परमतत्त्व का मुझे रहस्य बतलाने की

कृपा वर्षा करें। तब दया सागर महादेवजी ने कहा– हे मैत्रेय! यह जीवों का शरीर एक देव मन्दिर है उसमें जीव केवल परमात्मा है, इसलिये जीव को देहाभिमान का त्याग कर मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्द घन परमात्मा ही हूँ, ऐसा जानना ही परमात्मा की सच्ची उपासना है।

अभेद दर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मन:।
स्नानं मनोमल त्याग:शौचमिन्द्रियनिग्रह:।।२।।

जीव और परमात्मा में भेद न समझना ही ज्ञान है और मन को विषयों की आसक्ति से मुक्त रखना ही ध्यान है। मन के मैल का त्याग ही स्नान है और इन्द्रियों को वश में रखना ही पवित्रता है। वास्तविक पवित्रता तो मैं–मेरा व देहाभिमान के त्याग से ही होती है।

अहं ममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम् ।
शुद्धशौचिमिति प्रोक्तं मृजज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ।।८।।

मल, मुत्र, दुर्गन्ध आदि कि शुद्धि तो मिट्टी, जल आदि से होती है,परन्तु वह तो लौकिक शुद्धि है । वास्तविक पवित्रता तो 'मैं और मेरा' का त्याग से ही होती है ।

मृता मोहमयी माता जातो बोधमय: पुत्र:।
सूतकद्वयसंप्राप्तो कथं संध्यामुपास्महे।।१३।।

मोह रूपी मां मेरी मर गई है और ज्ञान रूप पुत्र उत्पन्न हुआ है, इसलिये मुझे मरण और जन्म के दो सूतक लगे हुए हैं, तो फिर सन्ध्या, वन्दन आदि कर्म मेरे द्वारा किस प्रकार किये जा सकते हैं? अर्थात् आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष के लिये अज्ञानी की तरह सन्ध्या वहन करने की कर्तव्यता नहीं है । **तस्य कार्यं न विद्यते ।**

हृदाकशे चिदादित्यः सदा भासति भासति ।
नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपास्महे ।।१४।।

हृदय रूप आकाश में चैतन्य रूप सूर्य हमेशा प्रकाशित रहता है जो वह कभी अस्त होता ही नहीं, तो फिर मैं सन्ध्या, उपासना किस प्रकार करूँ?

हे साधकों तुम्हें अपने स्वरूप को जानने के लिये अर्थात् जीवन्मुक्ति पाने के लिये सच्चे सन्तों की सेवा करनी चाहिये। तन,धन,पुत्र,स्त्री,घरादि से ममता छोड़ सब कुछ उन्हें उनके लिये अर्पण कर देना चाहिये।

असंशयवृतां मुक्तिः संशयाविष्ट चेतसाम् ।
न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात् ।।१६।

जो संशय रहित है, वे ही मुक्त हो सकता है और जिनको संशय है वे अनेक जन्मों के अन्त में भी मुक्त नहीं हो सकते हैं । इसलिये गुरु और शास्त्रों के वचनों पर श्रद्धा रखना चाहिऐ ।

कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु ।
संधौ जीवात्मनोरैक्य सन्यासः परिकीर्तितः ।।१७।

कर्मों को छोड़देना संन्यास नहीं है 'अथवा मैं सन्यासी हूँ' ऐसा कहदेने से भी कोर्स सन्यासी नहीं हो सकता । समाधि में जीव और परमात्मा की एकता का भान होना ही संन्यास कहलाता है ।

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यम शास्त्र चिन्तनम्।
अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थ भ्रान्त्यधमाधमा।।२१।।

तत्त्व का विचार करना उत्तम हैं,शास्त्र का विचार करना मध्यम है,म्न्त्रों की साधन अधम है और जीवों का तीर्थों में फिरना तो अधम से अधम अवस्था है।

अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते ।
प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ।।२२।।

जिस प्रकार जल में कोई पेड़ की छाया में दिखाई देनेवाले फल को खाकर आनन्द प्राप्त करना चाहे उसी प्रकार वास्तविक अनुभव के बिना मूढ़ मनुष्य ब्रह्म आनन्द पाने की व्यर्थ कल्पना करता है ।

पाषाण लोह मणि मृण्मय विग्रहेषु
पूजा पुनर्जनन भोगकरी मुमुक्षो:।
तस्माद्यति: स्वहृदयार्चनमेव कुर्यात्
बाह्यार्चनं परिहरेद पुनर्भवाय।।२६

काष्ठ, पत्थर सोना अथवा मिट्टी द्वारा बनाये मूर्तियों की पूजा मोक्ष की इच्छा वाले को फिर से जन्म और भोग प्राप्त कराने वाली होती है। इसलिये मोक्ष की इच्छा वाले साधक को फिर से जन्म ग्रहण न करना पड़े इस उद्देश्य से संन्यासी को ऐसी बाहर की पूजा त्याग कर हृदय में ही, सोऽहम् भावना से ही आत्म पूजा करनी चाहिये।

परब्रह्म उपनिषत्

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः।
यदक्षरं परंब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत।।६।।

शिखा सहित केशों को कटवाकर इस बाह्य उपवीत (यज्ञोपवीत) को छोड़ दे और जो अविनाशी परब्रह्म है, उसे ही सूत्र रूप में धारण करें।

पुनर्जन्मनिवृत्त्यार्थं मोक्षस्याहर्निशं स्मरेत् ।
सूचनात्सूत्रमित्युक्त सुत्रं नाम परं पदम् ।।७।।

पुनर्जन्म की समाप्ति के लिये निरन्तर मोक्ष का स्मरण करें । परब्रह्मरूपी जो सूत्र है वह इसी कारण सूत्र कहा जाता है कि वह सूचक है ।

तत्सूत्रं विदितं येन स मुमुक्षुः स भिक्षुकः ।
स वेदवित्सदाचारः स विप्रः पङ्क्तिपावनः ।।८।।

उस सूत्र का ज्ञान जिसे हो गया वह मुमुक्षु तथा भिक्षूक, सदाचारी, मुक्त ब्राह्मण है तथा वह अनेकों प्राणियों को पवित्र करने वाला है ।

येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगविद्ब्राह्मणो यति ।।९।।

जिस परब्रह्म ने इस अखण्ड ब्रह्माण्ड को धागे में मणके की तरह पिरो रखा है, उसी सूत्र के योग का ज्ञाता, यति ब्राह्मण धारण करें ।।

वहिः सूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ञानतत्परः ।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स मुक्तिभाक् ।
नाशुचित्वं न चोच्छिष्टं तस्य सूत्रस्य धारणात्।।१०।।

योगी तथा ज्ञानेच्छुक ब्राह्मण इस बाहर के सूत्र को सर्वथा त्याग दे। तथा उस ब्रह्म भाव से युक्त सूत्र को जो धारण करता है, वही मुक्ति का अधिकारी है। क्योंकि उस सूत्र को धारण करने में किसी भी प्रकार का पाप, अपवित्रता, उच्छिष्टता, झूठे होने का भय नहीं रहता है।

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतनाम् ।
ये तु सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ।।११।।

जिस ज्ञानमय यज्ञोपवीतधारीयों के अन्दर यह सूत्र रहता है वहाँ वस्तुतः संसार में सूत्र से सम्बन्धित ज्ञान रखने वाले तथा सच्चे यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं ।

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमीरितम् ।।१२।।

जो ज्ञानयुक्त शिखा वाले ज्ञाननीष्ठ तथा परमतत्त्व ज्ञान रूपी यज्ञोपवीत धारण करने वाले है उनके सर्वस्व ज्ञान ही है तथा ज्ञान ही उनके लिये परम पावन कहा गया है ।

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ।।१३।।

जिसकी अन्य शिखा न होकर अग्नि की शिखा के समान ज्ञानयुक्त शिखा है, वही विद्वान तथा चोटी वाला कहा जाता है । दूसरे लम्बे लम्बे बालों को धारण करने वाले को शिखा नहीं कहा जाता है ।

ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरकाः।
व्रजन्ते निरयं ते तु पुनर्जन्मनि जन्मनि।।१४।।

जो नामधारी ब्राह्मण केवल वैदिक याग–यज्ञादि तथा गृह निर्माण, व्यवसाय, विवाह, जन्म–मृत्यु,तर्पणादि लौकिक कर्म–अनुष्ठानादि कराने में ही लगे हुए हैं, वे ब्राह्मण तो केवल ब्राह्मण के आभास मात्र अर्थात् वे ब्राह्मण न होकर , उनकी छाया मात्र रूप में पेटों को भरने वाले होते हुए जी रहे है और अपनी देव दुर्लभ मनुष्य जीवन को पशुओं की तरह नष्ट कर रहे हैं। वे हमेशा सभी जन्मों के अन्त में नरक में पहुँचते हैं। फिर वे इस संसार के जन्म–मृत्यु रूपी नरक में जाकर अनेकों प्रकार के असहनीय दु:खों को सहते रहते हैं।

नाभ्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तप्रमाणं धारयेत्सुधीः ।
तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तन्तुनिर्मितम् ।।१६।।

इसी प्रकार परमतत्त्व रूपी नन्तु से बने हुए विविध क्रियाओं के अङ्गभूत इस सूत्र को धारण करना चाहिये । जिसकी ज्ञानमयी शिखा, चोंटी तथा ज्ञानमय उपवित (जनेऊ) होता है, उसकी सभी वस्तुयें ब्रह्ममय है, अन्यों की कोई भी वस्तु नहीं है ।

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किंचन ।।१७।।

जो विद्वान् इस परमतत्त्व स्वरूप परम परायण (ब्रह्मपरायण) यज्ञोपवीत को धारण कर यज्ञोपवीती होता है, वह ही वस्तुतः मुक्ति का अधिकारी है ।

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् ।
विद्वान्यज्ञोपवीती संधारयेद्यः स मुक्तिभाक् ।।१८।।

जो बाहर तथा अन्दर दोनो ओर से यज्ञोपवीती हो वही ब्राह्मण, सन्यास का अधिकारी है । केवल एक यज्ञोपवीत धारण करने वाला ही सन्यास का अधिकारी नहीं है, अर्थात् जो सांसारिक वैदिक कर्मों को विधिवत् करके परमतत्त्व की जिज्ञासा को प्रबलकर विरागमय हो गया है, वही सन्यास का अधिकारी है ।

बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः संन्यस्तुमर्हति ।
एकयज्ञोपवीती तु नैव संन्यस्तुमर्हति ।।१९

अतः यति को चाहिये कि सभी प्रयत्न से वह मोक्ष को चाहने वाले बने तथा बाहर के सूत्र को छोड़कर आंतरिक सूत्र को धारण करना चाहिये ।

तस्मात्सर्व प्रयत्नेन मोक्षापेक्षी भवेद्यति:।
बहि:सूत्रं परित्यज्य स्वान्त:सूत्रं तु धारेयत्।।२०।।

अत: मुक्ति के जिज्ञासु को चाहिये कि वह इस बाहर के प्रपंचमय शिखा सूत्र को छोड़कर हृदय स्थित ॐकार ब्रह्म ज्ञान रूपी शिखा सूत्र को धारण कर मोक्ष साधन करना चाहिये।

कठरुद्रोपनिषत्

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषा वहै।
ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:।

ॐ ब्रह्म ! आप हम दोनों (गुरु–शिष्य) का एक साथ ही रक्षण कीजिये, हम दोनों का पालन कीजिये, हम दोनों साथ ही ब्रह्म विद्या की सिद्धि प्राप्त करें। हम दोनों का विद्या अध्ययन तेजस्वी हो, हम दोनों किसी का द्वेष न करें। ॐ शान्ति: ॐ शान्ति: ॐ शान्ति:।

देवा ह वै भगवन्तम ब्रुवन्न धी हि भगवान् ब्रह्मविद्याम्
स प्रजापतिरब्रवीत् ।
सशिखान्, केशान्तिष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं
भू: स्वाहेत्यप्सु जुहु यात् ।।

एकबार समस्त देवता प्रजापति के पास जाकर कहने लगे – प्रभो ! हमें आप ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिए । इस पर ब्रह्माजी ने कहा – तुम सब चोटी सहित बालों को मुण्डवाकर यज्ञोपवीत को त्याग कर **ॐ भू: स्वाहा** कहता हुआ जल में विसर्जित करो। तत् पश्चात् यह उपेदश प्राप्त कर सकोगे ।

स एव जगत: साक्षी सर्वात्मा विमलाकृति:।
प्रतिष्ठा सर्वभूतानाम् प्रज्ञानघन लक्षण:।।१२।।

जो आत्मा नित्य प्रकाश रूप एवं स्वयं ही प्रकाशित है, यही विश्व को प्रकाशित करने वाला है। वही स्वच्छ स्वरूप वाला संसार का साक्षी और

सर्वात्मा है। सब प्राणियों में प्रतिष्ठित है क्योंकि वही प्रज्ञानघन प्रकाश स्वरूप है।

न कर्मणा न प्रजया न चान्येनापि केनचित्।
ब्रह्मवेदनमात्रेण ब्रह्माप्नोत्येव मानवः।।१३।।

मनुष्य अपने किसी कर्म से अथवा किसी भी साधन से ब्रह्म को नहीं पा सकता। संतान आदि के द्वारा भी ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। साधक को 'मैं ब्रह्म हूँ' अर्थात् 'सोऽहम्' चिन्तन मात्र से ही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है ।

तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयम् ।
संसारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञके ।।१४।।

ब्रह्म अचिन्त्य, सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूप है । संसार अज्ञान, माया और गुह्य रूप है । इस में वही ब्रह्म व्याप्त है ।

वह विद्या के द्वारा ही जाना जा सकता है। जो उसे जानता है उसकी कामनाएं पूर्ण होती है। मैं एक ब्रह्म रूप हूँ इस प्रकार जो स्वयं को ब्रह्म से प्रथक नहीं मानता है, जो अज्ञान और माया के साक्षी रूप से अपने को जानता है, वह ज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है।

ब्रह्मभूतात्मनस्तस्मादेतस्माच्छक्तिमिश्रितात् ।
अपञ्चीकृत आकाशसंभूतो रज्जुसर्पवत् ।।१७।।
आकाशाद्वायुसंज्ञस्तु स्पर्शोऽपञ्चीकृतः पुनः ।
वायोरग्निस्तथा चाग्नेराप अद्भयो बसुन्धरा ।।१८।।

मंद अन्धकार में रस्सी में सर्प भ्रम कि तरह अज्ञान के कारण ब्रह्मरूप आत्मा से इस आकाश की उत्पत्ति हुई, जिससे शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु महाभूत हुआ जिससे स्पर्श तन्मात्रा हुई । वायु से अग्नि महाभूत की उत्पत्ति हुई जिससे रूप तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई, अग्नि से जल महाभूत की उत्पत्ति हुई जिससे रस तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई, जल से पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति हुई जिससे गन्ध तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई ।

तानि भूतानि सूक्ष्माणि पञ्चीकृत्येश्वरस्तदा ।
तेभ्य एव विसृष्टं तद् ब्रह्माण्डादि शिवेन ह ।।१९।।

ब्रह्माण्डस्योदरे देवा दानवा यक्षकिन्नराः ।
मनुष्याः पशुपक्ष्याद्यास्तत्तत्कर्मानुसारतः ।।२०।।

कल्याण स्वरूप परमात्मा ने सूक्ष्म भूतों को पंचीकृत किया और उसके द्वारा ब्रह्माण्ड आदि की रचना की। उस बह्माण्ड में जीवों के पूर्व कर्मों के अनुसार देवता,दैत्य,यक्ष,किन्नर, पशु–पक्षी और श्रेष्ठ मानव योनि की उत्पत्ति हुई और मांस,मज्ञा, अस्थि आदि द्वारा बने हुए देह भी कर्मानुसार ही रचे गये।

अस्थिस्नाय्वादिरूपोऽयं शरीरं भाति देहिनाम् ।
योऽयमन्नमयो ह्यात्मा भाति सर्वशरीरिणः ।।२१।।

सभी देह धारियों के यह अन्नमय स्थूल शरीर दिखाई दे रहे हैं । उनसे पृथक् एक प्राणमय आत्मा है। वह आत्मा इस अन्नमय आत्मा में अवस्थित है। विज्ञानात्मक आत्मा के भीतर एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म आनन्दमय आत्मा और है। जैसे प्राणमय आत्मा से अन्नमय आत्मा परिपूर्ण हुआ है,वैसे ही आनन्दमय आत्मा से प्राणमय आत्मा पूर्ण होता है।

ततः प्राणमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः ।
ततो विज्ञान आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तर स्वतः ।।२२।।

आनन्दमय आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः ।
योऽयमन्नमयः सोऽयं पूर्णः प्राणमयेन तु ।।२३।।

मनोमयेन प्राणोऽपि तथा पूर्णः स्वभावतः ।।२४।।

तथा मनोमयो ह्यात्मा पूर्णो ज्ञानमयेन तु ।
आनन्देन सदा पूर्णः सदा ज्ञानमयः सुखम् ।।२५।।

तथानन्दमयश्चापि ब्रह्मणोऽन्येन साक्षिणा ।
सर्वान्तरेण पूर्णश्च ब्रह्म नान्येन केनचित् ।।२६।।

मनोमय आत्मा विज्ञानमय आत्मा के बिना पूर्ण नहीं है और विज्ञानमय आत्मा के बिना वह अधूरा रहता है। उस आनन्दमय आत्मा से भी भिन्न एक और आनन्दघन आत्मा है,यह सर्व व्यापि, सबके भीतर में वास करने

वाला परिपूर्ण ब्रह्म है । यही आनन्दमय आत्मा को पूर्ण करता है। परन्तु उस ब्रह्म को पूर्ण करने वाला कोई अन्य है। ब्रह्म स्वयं अपने को पूर्ण किये हुए है। यह ब्रह्म ही सत्य एवं ज्ञानरूप है और सबका आश्रय है।

यदिदं ब्रह्मपुच्छाख्यं सत्यज्ञानाद्वयात्मकम् ।
सारमेव रसं लब्ध्वा साक्षाद्देही सनातनम् ।।२७।।

सुखी भवति सर्वत्र अन्यथा सुखता कुतः ।
असत्यस्मिन् परानन्दे स्वात्मभूतेऽखिलात्मनाम् ।।२८।।

को जीवति नरो जन्तुः को वा नित्यं विचेष्टते ।
तस्मात् सर्वात्मना चित्ते भासमानो ह्यसौ नरः ।।२९।।

आनन्दयति दुखाढ्यं जीवात्मानं सदा जनः ।
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्यत्वादिलक्षणे ।।३०।।

यह देहधारी जीव उस सनातन तत्त्व को जानकर सर्व सुखी हो सकता है। इससे अन्यत्र कहीं भी सुख नहीं है। यह सभी प्राणियों की आत्मा है, इस परमानन्द ब्रह्म के बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता । जो सबके चिन्तन में अन्तर्यामी रूप से निवास करता है वह परम पुरुष ही दुःखग्रस्त प्राणियों को आनन्द देने वाला है। छोटे-से-छोटे कीट से लेकर भगवान् विष्णु तक इस आनन्दघन रूप सागर से नित्य आनन्द प्राप्त करते हैं । जो साधक उस द्वन्द्वातीत गुण रहित सत्य स्वरूप ब्रह्म को अपना स्वरूप मानता है, वह सर्वत्र भय रहित हो जाता है।

प्रत्यगात्मतया भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात् ।
शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च ।।४१।।

प्रमाता त प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा ।
इति सप्तविधं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः ।।४२

मायोपाधिविनिर्मुक्तं शुद्धमित्यभिधीयते ।
मायासंबन्धतश्चेशो जीवोऽविद्यावशस्तथा ।।४३।।

अन्तःकरणसंबन्धात् प्रमातेत्यभिधीयते ।
तथातद्वृत्तिसम्बन्धात् प्रमाणिमिति कथ्यते ।।४४।।

अज्ञातमपि चैतन्यं प्रेमयमिति कथ्यते ।
तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभिधीयते ।।४५।।

वेदान्त शास्त्रों में कहा गया है कि वह ब्रह्म प्रत्यक् आत्मा के रूप में विद्यमान है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय,फल, ब्रह्म, ईश्वर और जीव हैं, इसमें व्यवहार की दृष्टि से भेद माना गया है । ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है और माया द्वारा निर्मित उपाधियों से सर्वथा प्रथक् अर्थात् मुक्त है। मायात्मक होने से वह ब्रह्म ईश्वर कहलाता है और अविद्या उपाधि से वह जीव कहलाता है। अन्त:करण से सम्बन्धित होने के कारण वह ज्ञाता है,उसी अन्त:करण के कारण वह प्रमाता कहा जाता है। तद् वृत्ति से वही प्रमाण कहा जाता है। जब तक जीव को अपने स्वरूप का अज्ञान है, तब तक वही प्रमेय है और वही जब ज्ञात होजाता है तब फल सज्ञंक होता है।

सर्वोपाधिनिर्मुक्तं स्वात्मनं भावर्येत्सुधीः ।
एवं यो वेद तत्त्वेन ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।४६।।

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं वच्मि यथार्थतः ।
स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते ।।४७।।

इसलिये ज्ञानी पुरुष अपने को सब उपाधियों से मुक्त माने। इस प्रकार ज्ञान के जानने वाला ही ब्रह्मात्म स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ होता है। मैंने वेदान्त के सर्व सिद्धान्तों का सार रूप में वर्णन किया है। अपने कर्मों से ही प्राणी उत्पन्न होता है, तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। यह सब आत्मा का ही खेल है,क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं। यह उपनिषद् है ।

कुण्डिक उपनिषत्

न मे देहेन संबन्धो मेघेनेव विहायसः।
अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।।१५।।

मेरा इस देह से किसी प्रकार कोई संबन्ध नहीं है, जैसे आकाश का बादलों से किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं रहता है। इसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं से मेरा किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है।

न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम्
अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत्।।२३।।

साक्षी को साक्ष्य के धर्म उसी प्रकार स्पर्श नहीं करते हैं जैसे गृह के धर्म गृह के प्रकाशक दीपक पर किसी प्रकार कोई प्रभाव नहीं डाल पाते हैं।

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जड़ात्मकः।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा।।२४।।

यह जड़ शरीर चाहे जल में डूब जावे अथवा स्थान में पड़ा रहे, मैं जो चैतन्य स्वरूप हूँ वह उसके कारण उस शरीर में लिप्त नहीं हो सकता, जैसे घड़े के कारण घटाकाश में कोई विकृति नहीं आती है ।

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।
निर्विकल्पोस्मि नत्यिऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ।।२५ ।।

सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।
केवलाखण्डवोधोऽहं स्वानन्दोऽहं निरन्तरः ।।२६

उसी प्रकार मैं तो क्रियारहित, अविकारी,निष्कल,आकृति रहित,निर्विकल्प, निरालम्ब, द्वैत रहित, सर्वात्मा, सर्वातीत अद्वय आत्मा हूँ । मैं केवल अखण्ड बोधरूप हूँ और निरन्तर आनन्द रूप हूँ ।

स्वमेव सर्वतः पश्यन्मन्यमाना स्वमद्वयम् ।
स्वानन्दमनुभुञ्जानो निर्विकल्पो भवाम्यहम् ।।२७।।

अपने को ही सर्वदा देखता हूँ, स्वयं को अद्वैत माना हुआ, अपने ही आनन्द को भोगता हुआ मैं निर्विकल्प स्वरूप हूँ।

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वाऽन्यथापि वा ।
यथोच्छया वसेद्विद्वानात्मरामः सदा मुनिः ।।२८।।

चलता हुआ, ठहरा हुआ, बैठा हुआ, शयन करता हुआ अथवा किसी प्रकार से रहता हुआ यह आत्मनिष्ठ मुनि (ज्ञानी) यथा इच्छा निवास करे। ऐसा यह उपनिषत् है।

संन्यास उपनिषत्

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
य: सम: सर्व भूतेषु जीवितं तस्य शोभते।।५५।।

जिसमें अकर्तापन का भाव है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, जो सब भूतों को समान भाव से देखता है उसीका जीवन प्रशंसनीय है।

वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कायदण्डे त्वभोजनम्।
मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामो विधीयते।।११६।।

वाणी के दण्ड के लिये मौन रहें, काया को दण्ड देना हो तो उपवास करें, मन को दण्ड देना हो तो प्राणायाम करें।

कर्मणा बध्यते जन्तु र्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतय: पारदर्शिन:।।११७।।

प्राणी कर्मों से बन्धन में पड़ते हैं और विद्या से छुटकारा पाजाते हैं। इसलिये ज्ञानी संन्यासी कर्म से पृथक् रहते हैं अर्थात् कर्म करने में श्रद्धा नहीं करते हैं। अपने रूप के चिन्तन को त्याग कर अन्य शास्त्रों का अभ्यास करना जैसे योग शास्त्र में प्रवृत्त होना,सांख्य शास्त्रों के मन्त्रों को पढ़ना भी नहीं चाहिये। क्योंकि उस आत्म ज्ञानी के लिये सभी साधन उसी प्रकार व्यर्थ हैं जैसे मृतक के शरीर पर धारण कराये जाने वाले वस्त्र तथा आभूषण व्यर्थ ही होते हैं। इसलिये ज्ञानी के लिये आत्म निष्ठा को छोड़ किञ्चित् भी अन्य साधन करना कर्तव्य नहीं है। '**तस्य कार्यं न विद्यते**' ।

नारद परिव्राजकोपनिषत्

पंचम उपदेश

न दण्डधारणेन न मुण्डनेन।
न वेषेण न दम्भाचरेण मुक्तिः।।२८।।

केवल सिर मुँडाने, दण्ड धारण, गेरिक वस्त्र, जटा, दाढ़ी–मूँछ,कमण्डल आदि बाह्य वेष धारण से मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। दण्डी तो वही कहलाता है जिसके पास ज्ञान रूप दण्ड है।

ज्ञान दण्डो धृतो येन एक दण्डी स उच्यते ।
काष्ठ दण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञान वर्जितः।
स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञितान्।।२९।।

मन में सब इच्छायें जाग्रत हैं, ज्ञान का अभाव है और काठ का दण्ड धारण कर रखा है, इस प्रकार आडम्बर करने वाला मनुष्य घोर नरक का अधिकारी होता है।

प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठासमा गीता महर्षिभि:
तस्मादेनां परित्यज्य कीटवत्यपर्यटेद्यति:।।३०।।

अत: मोक्ष अभिलाषी को अपनी प्रतिष्ठा का भाव सर्व प्रथम त्याग कर देना चाहिये और साधारण जीव की तरह अमानी होकर, अयाचक होकर जीवन व्यतीत करना चाहिये। संग्रह वृत्ति का सर्वथा त्याग करे और केवल प्राण रक्षा हेतु ही पशु की तरह ग्रहण करे। कीट की तरह निराभिमान

स्वच्छन्द होकर विचरण करे। उसे तो ऐसा आचरण बनाये रखना चाहिये कि जिसे देख कोई व्यक्ति उससे सम्बन्ध स्थापित करना न चाहे।

अनेक ग्रन्थों का अध्ययन न करे,न शिष्य एकत्रित करे और अपने नाम के साथ किसी गिरी,पुरी,आनन्द,भारती आदि उपाधि को न जोड़े। विद्वान् होकर भी बालक या गूँगे के समान अज्ञानी व मौनी बनकर रहे। विभिन्न आयोजन द्वारा अपनी प्रसिद्धि न बढ़ावे। दूसरे लोग जैसा करते हैं उनके सामने वैसा ही व्यवहार करे। व्याख्यान में अपना पक्ष प्रबल करने के लिये खींचतान न करे।

अकेला ही भ्रमण करे किसी को साथी न बनावे। मन, वाणी और देह के द्वारा किसी भी जीव के प्रति द्वेष भाव न रखे। यदि कोई मूर्ख देह को देख या देह पर थूक दे, मल त्याग दे अथवा किसी अन्य प्रकार से कष्ट पहुँचावे तो सहन करले उसका बुरा न माने बल्कि अपने आत्म भाव की परीक्षा का शुभ अवसर ही जाने।

इस देव दुर्लभ मानव जीवन को प्राप्त कर साधक अपने अतिरिक्त अन्य सबको कल्पित और नाशवान् समझता हुआ स्वयं में ब्रह्म भाव रखें। महाकाश से घटाकाश के समान ही परमात्मा से जीवात्मा का कल्पित भेद जाने। इस कारण ही यह हंस स्वरूप जीव प्राण उच्छ्वास और निश्वास के रूप में सोऽहं जपता हुआ अपने को एकमात्र परमात्मा ही जाने ।

ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाला साधक भेंट लेकर किसी सत्गुरु के आश्रम में केवल वेदान्त ज्ञान पाने के लिये जावे । किन्तु किसी पद,प्रतिष्ठा,धन,पुत्र आदि पाने की इच्छा का त्याग कर केवल मोक्ष पाने के साधन ज्ञान में ही लगा रहे। श्रद्धा पूर्वक गुरु से महावाक्यों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन आश्रम में एक वर्ष सेवा भाव से रहकर अभ्यास करे।

नवम उपदेश

अन्योऽसावन्यऽहमस्मीति ये विदुस्ते पशवो न स्वभाव पशवस्त मेव ज्ञात्वा विद्वान्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।१।।

नारद ने ब्रह्माजी से पूछा कि ब्रह्म का क्या स्वरूप है ? **किं ब्रह्मस्वरूपमिति ?** तब ब्रह्माजी ने कहा – हे नारद ! अपना स्वरूप ही ब्रह्म है। जो मनुष्य अपने को ब्रह्म से भिन्न मानता है उसे मनुष्य नहीं पशु ही समझना चाहिये। पशु को ही पशु नहीं जानो बल्कि उन मनुष्य को भी पशु ही जानो जिन्हें अपने वास्तविकता का ज्ञान नहीं है। जो पुरुष परब्रह्म को ही सर्व जीवों की आत्मा जानता है वह ज्ञानी पुरुष ही मृत्यु के मुख से बच पाता है। मोक्ष को पाने के लिये एकमात्र ज्ञान ही मार्ग है । आत्म ज्ञान के अतिरिक्त ब्रह्म को पाने का कोई अन्य मार्ग नहीं है **'नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।'**।१।।

जब मनुष्य ईश्वर ,जीव, प्रकृति इन तीनों को एक ब्रह्म रूप जान लेता है तब उसके सब बन्धन कट जाते हैं। प्रकृति नश्वर होने वाली है परन्तु उसका भोक्ता जीव आत्मा अविनाशी है। एकमात्र ईश्वर ही इस नाशशील प्रकृति और अविनाशी जीव आत्मा को अपने आधीन रखते हैं। मन उन्हीं परमात्मा में सोऽहं रूप से निरन्तर चिन्तन करने से अन्त में उसी ब्रह्म को प्राप्त होजाता है।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशै: क्षीणै: क्लेशैर्जन्मृत्युप्रहाणि:।११

इन साक्षी आत्म स्वरूप को मैं रूप से जानने मात्र से यह जीव समस्त बन्धन से मुक्त हो जाता है। जन्म–मरण का बन्धन भी समाप्त हो जाता है। वह ब्रह्म अपने में ही स्थित है,उसको ही सोऽहम् रूप से जानना चाहिये।

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नाता परं वेदितव्य हि किंचित्
भोक्त भोग्यं प्रेरितारंच मत्वा सर्व प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म ह्येतत्।।१२ ।।

ब्रह्म से अधिक जानने योग्य कुछ नहीं है। भोक्ता, भोग्य और प्रेरक परमात्मा इन्हें जान लेने पर सबका ज्ञान स्वत: होजाता है इन तीनों भेदों में वह ब्रह्म ही वर्तमान है। उसकी प्राप्ति के मुख्य साधन विचार तप और आत्मज्ञान ही है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम्।।१६।।

यह प्रत्यक् आत्म स्वरूप परमात्मा निर्गुण निराकार होने से बिना हाथ–पाँव के होते हुए सबको पकड़े हुए है और बिना पैरों के होकर भी वह तीव्र गति से सब शरीरों से सब और दौड़ता है । यह बिना नेत्रों के ही छोटे–बड़े सब शरीरों में रहकर सबकुछ बाहर–भीतर देखता है और बिना श्रोत्र के ही सब शरीरों में रहकर सबकी सुनता है। यह सभी ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञाता है, **परन्तु देह में स्थित इन चैतन्य आत्म देव को दृश्य रूप से कोई नहीं जान सकता ।** ज्ञानीजन इन्हें पुराण पुरुष कहते हैं यह इस नाशवान् देहों में बिना शरीर के सदा निवास करता है । **जो मुमुक्षु देह स्थित इस आत्मदेव को मैं रूप जानता है उसे गुरु, शिष्य और शास्त्र के बन्धन भी नहीं लगते हैं ।** वह ज्ञानी सभी प्राणियों को अपनी आत्मा ही जानता है।

पैङ्गलोपनिषत्

अविचार कृतो बन्धो विचारान्मोक्षो भवति।
तस्मात् सदा विचारयेत्।। २/१८

जीव अपने आत्म स्वरूप के अज्ञान से जन्म–मृत्यु के बन्धन को प्राप्त होता है किन्तु जब यह जीव किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु से अनादि काल से भूले देह से भिन्न निज आत्म स्वरूप को मैं रूप से जान लेता है तब यह जीव बिना साधन के केवल आत्म निष्ठा के द्वारा ही मुक्त होजाता है, इसलिये मोक्षाभिलाषी को सर्वदा आत्म विचार ही करना चाहिये।

दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं यथा।
ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न च श्राद्धं न च त्रिया।।४/१०

जिस प्रकार जले हुए को नहीं जलाया जाता और पके हुए को पुन: पकाया नहीं जाता, इसी प्रकार जो श्रद्धालु सद् गुरु कृपा से ज्ञानाग्नि द्वारा जल चुके हैं उनके देह त्याग के बाद उसकी शुद्धि हेतु किसी प्रकार के श्राद्ध और क्रिया कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। ऐसा योगी चाहे तीर्थ स्थान में प्राण त्याग करे अथवा चाण्डाल के घर द्वार सम्मुख प्राण त्याग करे, वह सदा कैवल्य को ही प्राप्त होता है। उसके शरीर को चाहे जंगल के हिंसक पशु खा डाले,चाहे गाढ़ दिया जावे, वह कैवल्य को ही प्राप्त होता है।

चतुर्थ अध्याय

अमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम् ?
एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति।।१३।।

जो व्यक्ति आत्म अमृत को मैं रूप जान तृप्त हो चुके हैं उसे दुग्ध खोजने से क्या काम? इसी प्रकार जो आत्म ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं उन्हें वेदों में कहे हुए कर्म–उपासना से क्या प्रयोजन? अर्थात् उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता है । **तस्य कार्यं न विद्यते** (गीता ३/१७) जो योगी ज्ञान अमृत से तृप्त हो चुका है उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। यदि वह इस आत्म ज्ञान के अतिरिक्त अपने कल्याण हेतु अन्य साधन करता है तो फिर उसे अज्ञानी ही जानना चाहिये। वह पूर्ण ज्ञानी नहीं है।

यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
अविशेषो भवेत्तद्व ज्ञीवात्म परमात्मनो ।।१५।।

जल में जल, दुग्ध में दुग्ध और घृत में घृत डालने से वे एक रूप हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा का एकत्व बोध जाग्रत हो जाने पर उनमें भी कोई अन्तर नहीं रहता है।

देहे ज्ञानेन दीपिते बुद्धिरखण्डाकाररूपा यदा भवति
तदा विद्वान् ब्रह्मज्ञानाग्निना कर्मबन्धं निर्दहेत्।।१६।।

जब ज्ञान द्वारा देहाभिमान नष्ट होजाता है और बुद्धि अखण्ड ब्रह्माकार हो जाती है, तब बुद्धिमान पुरुष ज्ञान रूपी अग्नि से कर्म बन्धन को भस्मसात कर देता है।

आकाशवत् सूक्ष्म शरीर आत्मा न दृश्यते वायुवदन्तरात्मा।
स बाह्यमभ्यन्तरनिश्चलात्मा ज्ञानोल्कया
पश्यति चान्तरात्मा।।१८।।

आत्मा आकाशवत् सूक्ष्म और व्यापक तथा वायु के समान दिखाई न पड़ने वाली है। वह भीतर और बाहर से भी अचल है वह केवल ज्ञान रूपी नेत्र से ही मैं रूप में अनुभव हो सकती है।

यत्र यत्र मृतो ज्ञानी येन वा केन मृत्युना।
यथा सर्वगतं व्योम तत्र तत्र लयं गत:।।१९।।

ज्ञानी कहीं भी और कैसे भी देह त्याग करे, वह ब्रह्म में ही मिल जाता है । मिलजाता है क्या, बल्कि एक ही है, मिला हुआ ही है । जैसे घट नष्ट हो जाने से घटाकाश महाकाश रूप हो जाता है, इसी तरह देह नष्ट होने से जीवात्मा ब्रह्म रूप ही हो जाता है, बल्कि ब्रह्म ही है ।

घटाकाशमिवात्मानं विलयं वेत्ति तत्त्वत:.
स गच्छति निरालम्ब ज्ञानालोका समन्तत:।।२०।।

जैसे घटाकाश महाकाश में ही समाया रहता है उसी प्रकार जो योगी अपने वास्तविक आत्म स्वरूप को जान लेता है यह सब ओर से निरालम्ब और ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के चिदाकाश में ही समाया रहता है।

विज्ञेयोऽक्षरतन्मात्रो जीवितं वाऽपि चञ्चलम्।
विहाय शास्त्र जालानि यत् सत्यं तदुपास्यताम्।।२३।।

मनुष्य को यही जान लेना चाहिये कि केवल एक अक्षर ब्रह्म ही सत्य है । मनुष्य का जीवन चञ्चल है, इसलिये शास्त्रों के जाल में न पड़कर जो सत्य है उसी की उपासना करना ही कर्तव्य है।

अनन्तकर्मशौचं च जपो यज्ञस्तथैव च।
तीर्थ यात्राभिगमनं यावत्तत्त्वं न विन्दति।।२४।।

तरह–तरह के कर्म, शौच, जप, यज्ञ, तप, तीर्थ यात्रा आदि साधक हेतु तभी तक है, जबतक आत्मा का मैं रूप से ज्ञान नहीं होता है ।

अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्ष हेतुर्महात्मनाम्।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय न ममेति ममेति च ।।२५।।

महात्मा पुरुषों को मोक्ष का आधार यह भाव ही होता है कि मैं ब्रह्म हूँ। बन्धन और मोक्ष के कारण दो ही पद है । यह मैरा है और दूसरा यह मेरा नहीं है।

ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते।
मनसो ह्युन्मनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।।२६।।

मेरा कहने से ही जीव को बन्धन होता है और मेरा नहीं जानने से ही जीव तत्काल मोक्ष को प्राप्त होता है।

जब मन आत्मा भाव को प्राप्त हो जाता है तब द्वैत भाव मिट जाता है।

यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र परं पदम्।।२७।।
तत्र तत्र पर ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम्।

अद्वैत ज्ञान में जिस महापुरुष की दृढ़ निष्ठा हो जाती है तब उसकी जहाँ–जहाँ दृष्टि जाती है, उसे सर्वत्र एक ही ब्रह्म अनुभव में आता है।

नाहं ब्रह्मेति जानाति तस्य मुक्तिर्न जायते।।२८।।

जो व्यक्ति कहता है कि मैं ब्रह्म को आत्मा रूप से अर्थात् मैं रूप से नहीं जानता, उससे मुक्ति के लिये किये आजतक सभी प्रयत्न, साधन निष्फल हो जाते हैं।

जो इस उपनिषद् को नित्य पढ़ता है वह ज्ञानी अग्नि, वायु, सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र के समान पवित्र होता है । वह सब वेदों का ज्ञाता हो जाता है । उसको समस्त वेदानुकूल व्रतों का फल प्राप्त हो जाता है। उसको इतिहास, पुराण आदि के पढ़ने तथा रुद्र के लाखों जप करने का फल प्राप्त होता है । उसे हजार प्रणव के जप का फल मिल जाता है। उसकी दस पिछली और दस आगामी पीढ़ी पवित्र हो जाती है। उसके साथ बैठने वाले भी पवित्र हो जाते हैं। वह महान् होता है । ब्रह्म हत्या. सुरापान, स्वर्ण की चोरी, गुरु–पत्नी गमन आदि जैसे महापाप करने वालों की संगत के पाप से भी छूट जाता है। ॐ यह उपनिषत् सत्य है।

आत्म प्रबोध उपनिषत्

द्वैताद्वैतमभयं भवति मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।५

जल व बर्फ की तरह द्वैत भी अद्वैत ही है और यही निराकार–साकार दोनों रूप होता है । जो मनुष्य इस ब्रह्म को अपने से पृथक् मानता है, वह मृत्यु के पश्चात् मृत्यु को ही प्राप्त होता है।

ब्रह्मादि कीट पर्यन्ताः प्राणिनो मयि कल्पिताः।
बुदबुदादिविकारान्तस्तरङ्गः सागरे यथा।।१४।

जैसे समुद्र में बुलबुले से लेकर तरंग तक सभी आकार कल्पित हैं उसी प्रकार मेरे अन्दर ब्रह्मा से लेकर नाली का कीड़ा तक प्राणीमात्र कल्पित है, क्योंकि समुद्र जल से, तरंग जल किञ्चित् भी पृथक् या भिन्न नहीं है ।

तरङ्गस्थं द्रवं सिन्धुर्न वाञ्छति यथा तथा।
विषयानन्दवाञ्छा मे मा भूदानन्दरूपतः।।१५।।

जिस प्रकार समुद्र, तरंगों में रहने वाले जल की इच्छा नहीं करता है,वैसे ही मैं आनन्द स्वरूप होने से मुझे विषयों के आनन्द की इच्छा नहीं होती है। क्योंकि महान् ब्रह्मानन्द से क्षणीक विषयानन्द किञ्चित् भी पृथक् नहीं है । जैसे मिश्री की मधुरता से मिठाइयों की मधुरता किञ्चित भी पृथक् नहीं होती है ।

विषं दृष्ट्वाऽमृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान्।
आत्मानमपि दृष्ट्वाहमनात्मानं त्यजाम्यहम्।।१७।।

बुद्धिमान मनुष्य विष और अमृत को देखकर जिस प्रकार विष का त्याग करता है और अमृत को ग्रहण करता है । इसी तरह विवेक पुरुष अपने को आत्म रूप जानकर अनात्म देह संघात् के अभिमान का त्याग कर देता है।

घटावभासको भानुर्घटनाशे न नश्यति।
देहावभासक: साक्षी देहनाशे न नश्यति।।१८।।

जिस प्रकार घड़े को प्रकाशित करने वाला सूर्य घड़े के नाश होने से नष्ट नहीं होजाता है, वैसे ही शरीर का प्रकाशक साक्षी, देह का नाश होने पर भी नष्ट नहीं हो सकता।

न मे बन्धो न मे मुक्तिर्न मे शास्त्रं न मे गुरु:
मायामात्र विकासत्वान्मायातीतोह्मद्वय:।।१९।।

मुझे बन्धन नहीं है,मुझे मोक्ष भी नहीं है, मेरे लिये शास्त्र नहीं है और मेरा कोई गुरु नहीं है, क्योंकि यह सब तो माया के विकार मात्र है और मैं माया से परे अद्वैत ब्रह्म स्वरूप हूँ।

प्राणाश्चलन्तु तद्धर्मै: कामैर्वा हन्यतां मन:।
आनन्द बुद्धिपूर्णस्य मम दु:ख कथं भवेत।।२०।।

प्राण भले ही चले जाय और मन चाहे अपने धर्मों तथा कामनाओं के साथ नाश को प्राप्त हो, पर आनन्द और ज्ञान से पूर्ण मुझ आत्मा को किसी प्रकार दु:ख नहीं हो सकता है।

ब्राह्मण्यं कुलगोत्रे च नामसौन्दर्यजातय:।
स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य मे नहि।।२२।।

ब्राह्मणपन, कुल, गोत्र, नाम,सुन्दरता और जातिका अस्तित्व एवं कल्पना स्थूल देह में होता है, मैं तो स्थूल नाम, रूप देह से भिन्न हूँ इसलिये उनमें से किसी से मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

क्षुत्पिपासान्ध्यबाधिर्य कामक्रोधादयोऽखिला:।
लिंगदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न सन्ति हि।।२३।।

भूख, प्यास, अन्धपन, बहरापन, काम, क्रोधादि समस्त धर्म तो लिंग देह में रहते हैं किन्तु मैं आत्मा तो लिंग देह से रहित हूँ। मेरा इनसे किसी प्रकार कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

जड़त्वप्रियमोदत्वधर्माः कारण देहगाः।
न सन्ति मम नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिणः।।२४।।

जड़ता, प्रियता और आनन्दादि मानना तो कारण देह के धर्म हैं और मैं तो नित्य तथा निर्विकार सच्चिदानन्द स्वरूपवाला हूँ, इसलिये यह सब धर्म मेरे नहीं है।

उलूकस्य यथा भानुरन्धकारः प्रतीयते।
स्वप्रकाशे परानन्दे नमो मूढस्य जायते।।२५।।

जिस प्रकार उल्लू को सूर्य अन्धकारमय दिखाई देता है, उसी प्रकार अज्ञानी को स्वयंप्रकाश परमात्मा में अज्ञान दिखाई देता है । अथवा जिस प्रकार उल्लु को सूर्य प्रकाश अच्छा नहीं लगता है । उसी प्रकार विषय भोगी इन्द्रिय लोलुप व्यक्ति को आत्म चर्चा अच्छी नहीं लगती है ।

चक्षुर्दृष्टिनिरोधऽभ्रैः सूर्यो नास्तीति मन्यते।
तथाऽज्ञानावृतो देही ब्रह्म नास्तीति मन्यते।।२६।।

जिस प्रकार बादलों के कारण चारों तरफ से दृष्टि रुक जाने के कारण लोग समझने लगते हैं कि अभी सूर्य नहीं है, उसी प्रकार बुद्धि अज्ञान से घिरी होने से प्राणी मानता है कि ब्रह्म है ही नहीं ।

यथाऽमृतं विषद्भिन्नं विषदोषैर्न लिप्यते।
न स्पृशामि जड़ाद्भिन्नो जड़दोषा प्रकाशतः।।२७।।

जिस प्रकार अमृत विष से पृथक् है इसलिये विष के दोषों से वह दूषित नहीं होता है । जैसे स्वच्छ स्फटिक मणि को कोई रंग, रंगीन नहीं कर सकता अथवा घट के धर्म घट स्थित आकाश पर अपना कोई गुण धर्म प्रभावित नहीं कर सकते, वैसे ही जड़ देह संघात् के दोषों का मुझ असंग, आत्मा से स्पर्श नहीं होता है।

चिद्रुपत्वान्न मे जाड्यं सत्यत्वान्नानृतं मम।
आनन्दत्वान्न मे दु:खमज्ञानाद्भाति सत्यवत्।।३०

मैं तो केवल अद्वैत हूँ। मैं चैतन्य रूप हूँ, इससे मुझ में जड़ता नहीं है। मैं सत्य रूप हूँ इससे मुझमें असत्य नहीं है और मैं आनन्द रूप हूँ, इससे मुझे दु:ख नहीं है, ये सब केवल अज्ञान से ही जीव अपने में मान लेता है ।

आत्म प्रबोधो उपनिषद् मुहूर्तमुपासित्वा न स पुनरावर्तते।
न स पुनरावर्तत। इत्युपनिषत्।। ३१।।

इस मैं रूप आत्मा का प्रबोध कराने वाले उपनिषद् को जो मनुष्य मरण काल में भी दो घड़ी के लिए सेवन करता है अर्थात् देहात्म बुद्धि छोड़कर अपने को आत्म रूप से स्वीकार करता है तो फिर वह जीवात्मा पुन: इस संसार में नहीं आता है–ऐसा यह रहस्य है ।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमनशु:।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति।।३।।

उस परम तत्त्व निज आत्म स्वरूप को धन,सन्तति अथवा कर्म के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। देह संघात् के सभी अहंकारों का त्याग ही एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा सभी ब्रह्म ज्ञानियों ने परम अमृतत्व को प्राप्त किया है। इस आत्म तत्त्व के ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति पाने का कोई अन्य मार्ग नहीं है ।

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्य: पन्था विमुक्तये ।।९ ।।

सर्व भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
सपंश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ।।१०।।

आत्म ब्रह्म को जानकर ही यह जीव जन्म–मृत्यु के चक्कर से छूट जाता है। जो मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है वह आत्म रूप से अपने को समस्त भूतों में और समस्त भूतों को अपने में अर्थात् आत्मा में व्याप्त देखता है । इस ज्ञान को छोड़ कर मुक्ति पाने का कोई अन्य मार्ग नहीं है।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत प्रकाशते।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्व बन्धै: प्रमुच्यते।।१७।।

जीव जब यह जान लेता है कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, ध्यान, समाधि और मुर्च्छा आदि अवस्थाओं के मायिक प्रपंच को जो जानता है, वह ब्रह्म मैं हूँ, तब वह ज्ञानी समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

मय्येव सकलं जातं मयि सर्व प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्व लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्।।१९।।

मैं ही वह अद्वय ब्रह्म स्वरूप हूँ जिसमें सब कुछ उत्पन्न होता है, मुझ में ही सब प्रतिष्ठित होता है और मुझ में ही यह सब प्रपंच लय को प्राप्त होता है।

अणोरणीयानहमेव तद्वन् महानहं विश्वमहं विचित्रम् ।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ।।२०।।

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः ।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता ममचित् सदाहम्।।२१।।

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेतविदेव चाहम् ।।२२।

न पुण्य पापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ।
न भूमिरापो न च ब्रह्मरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च ।
एवं विदित्वां परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ।।२३।।

मैं छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा हूँ। इस अद्भुत संसार को मेरा ही रूप जानना चाहिये । मैं ही शिव और ब्रह्मा का स्वरूप हूँ। मैं ही परमात्मा और विराट पुरुष हूँ। यह आत्म शक्ति जिसके न हाथ-पैर हैं और न जिसके कोई सम्बन्धी हैं, न चिन्तन ही किया जा सकता है, वह परमब्रह्म मैं ही हूँ। सर्वदा चित्त स्वरूप रहता हूँ। मुझे कोई जान और समझ नहीं सकता, मैं बुद्धि के बिना ही सब कुछ जानने, स्थूल कानों के बिना सब कुछ सुनने और स्थूल आँखों के बिना सब कुछ देखने की सामर्थ्य रखता हूँ। मैं ही आत्म देव का उपदेश करता हूँ, मैंने ही वेदान्त की रचना की है और सारे वेद मेरे ही सम्बन्ध में चर्चा करते हैं। मैं जन्म और मृत्यु से परे हूँ। पाप और पुण्य मुझे छू नहीं सकते। मैं शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से रहित हूँ। मेरे लिये भूमि,जल, तेज, वायु, आकाश कुछ नहीं है। वही मनुष्य मेरे शुद्ध परमात्मा स्वरूप का साक्षात्कार करता है, जो इस तरह से समस्त मायिक प्रपंचों से परे सबके साक्षी, अद्वितीय, हाथ, पैर रहित परमात्मा तत्त्व को जान जाता है ।।२४।।

ब्रह्म बिन्दु उपनिषत्

ॐ मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं काम संकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्।।१।।

शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का मन होता है। अथवा मन उसे कहते हैं जिससे विषयों और इच्छाओं से संकल्पों की उत्पत्ति होती है, शुद्ध मन वह है जिसमें इच्छाएं न उठती हो ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यैव निर्विषयं स्मृतम्।।२।।

बन्धन और मोक्ष का कारण मन को ही बताया गया है। जब मन विषयों में आसक्त रहता है, उसमें बन्धन और जब मन में विषयों का अभाव रहता है उससे मोक्ष मिलता है।

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते।
तस्मान्निर्विषयं नित्यं मन: कार्यं मुमुक्षुणा।।३।।

मन का लय तभी हो पाता है जब वह विषय संकल्पों से रहित हो जाता है। इसलिये जिस साधक को मोक्ष की इच्छा हो, वह अपने मन को विषय भोगों से शून्य रखे।

तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरन्जनम् ।
तद्ब्रह्माह मिति ज्ञात्वो ब्रह्म संपद्यते ध्रुवम।।८।।

जो ब्रह्म निर्गुण निराकार, निरवयव, निष्कल, निरुपाधिक, निरंजन, निर्विकल्प आत्मस्वरूप है, उसके प्रति जो मुमुक्षु यह भावना करता है कि वह ब्रह्म मैं ही हूँ, वह उस भावना के द्वारा ब्रह्म ही हो जाता है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च शासनम्।
न मुमुक्षा न मुक्तिश्चेदित्येषा परमार्थता।।१०।।

जो व्यक्ति यह भावना करता है कि 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' वह उस भावना के द्वारा ब्रह्म ही हो जाता है । वास्तविक ज्ञान यह है कि जब कोई इस प्रकार समझे की न सृष्टि है, न माया, न बन्धन है, न मोक्ष की अभिलाषा है और न मोक्ष है ।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।।१२।।
घटसंवृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा ।
घटो लीयते नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः ।।१३

जिस प्रकार से चन्द्रमा एक होते हुए भी जल में उसके अलग–अलग प्रतिविम्ब दिखाई देते हैं । घड़े में आकाश अवश्य होता है, परन्तु जब वह फूट जाता है तब घड़े की ही समाप्ति समझी जाती है, आकाश की नहीं । इसी प्रकार से शरीर में स्थित जीव को भी आकाश की तरह ही समझना चाहिए । शरीर के नाश होने पर आत्मा का कदापि नाश नहीं होता । परन्तु यह जीव अपने देह के अन्दर स्थित परमात्मा को नहीं जानता ।

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि नष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।१७

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानाविज्ञानतत्त्वतः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ।।१८

'शब्द ब्रह्म और परब्रह्म' दो प्रकार की विद्याओं को जानना चाहिए । जब मनुष्य शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद शास्त्रों के ज्ञान में दक्ष हो जाता है तब परब्रह्म को समझ जाता है । जिस तरह से अन्न प्राप्ति की इच्छा करने वाले मनुष्य पुआर को तो खलिहान में ही छोड़ अन्न को काट लेता है, उसी प्रकार विद्वान पुरुष को चाहिए कि वह ग्रन्थों का अवलोकन कर अभ्यास द्वारा उनमें भरे ज्ञान–विज्ञान के तत्त्वों को लेकर ग्रन्थों के कथा भाग को छोड़ दे ।

आत्मोपनिषद्

तद्वद्ब्रह्मविदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम् ।

अर्थात् प्रत्येक वस्तु का ब्रह्मस्वरूप होने के कारण ब्रह्म के प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है । ठीक उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी का ब्रह्माऽहम् (मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकार का समझना ही ब्रह्म का साक्षात् प्रत्यक्ष है ।

उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सद्ब्रह्माप्येति निर्द्वयम् ।
शैलुषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान् ।।२१

स्थान के, आधार के, शरीरादि के नष्ट होने पर भी ब्रह्मज्ञानी परब्रह्मरूप होकर लीन हो जाता है, जो कि द्वैतहीन है । जैसे विविध वेष धारण करने पर मनुष्य नट आदि समझा जाता है तथा पूर्व स्थिति में आने पर वही पुरुष समझा जाता है ।

तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः ।
घटे नष्टे तथा व्योम् व्योमैव भवति स्वयम् ।।२२

ब्रह्मज्ञानी जीव भी ब्रह्म ही है केवल अविद्या उपाधि के कारण वह कर्ता–भोक्ता प्रतीत होता है । वस्तुतः वह ब्रह्म ही है । जैसे घड़े के फूट जाने पर घड़े के अन्दर का आकाश–महाआकाश रूप ही हो जाता है । वैसे ही अविद्या उपाधि (शरीरादि) के विलीन हो जाने पर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म स्वरूप ही होता है ।

तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम् ।
क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले ।।२३

जैसे दूध में दूध, तेल में तेल, जल में जल डालने पर एक हो जाते हैं, ठीक वैसे ही आत्मज्ञानी मुनि तथा आत्मा की स्थिति है ।

संयुक्तमेकतां याति तथाऽऽत्मन्याप्तमविन्मुनिः ।
एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम् ।।२४।।

इस प्रकार विदेह रूप कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर सन्मात्र अखण्डित विग्रहवान् ब्रह्मभाव की प्राप्ति कर पुनः संसारावर्तन में नहीं आता जाता । क्योंकि सदात्मकत्व विज्ञान से उसकी विद्या–अविद्या सभी दग्ध हो जाती है ।

परम हंस परिव्राजक उपनिषत्

पितामह ब्रह्मा ने आदि पिता नारायण को प्रणाम करके पूछा – भगवन् ! मैं परमहंस परिव्राजक के लक्षण जानना चाहता हूँ। परिव्राजक होने का अधिकारी कौन है ? परिव्राजक के लक्षण क्या है ? परमहंस किसे कहते हैं? परिव्राजक तत्त्व क्या है ?

तब भगवान् आदि नारायण ने कहा – भूजा ऊँची उठा कर 'मैं ब्रह्म हूँ' 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के अर्थ पर विचार करता हुआ उत्तर दिशा को चला जाय और शुद्ध रूप में विचरण करे यह संन्यास है ।

वह सदैव ब्रह्मभावना रखे, लाभ–हानि को समझे तथा हाथ से भिक्षा करके खावे और अल्प भोजन द्वारा कृश शरीर होता हुआ 'मैं ब्रह्म हूँ' यह भावना करते हुए आठ मास तक ग्रामों मे भिक्षा माँग कर अकेला विचरण करे ।

जब ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाय तब कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड कमण्डल सबको जल में विसर्जन करके कुटीचक, बहूदक, हंस अथवा परमहंस होकर नग्नावस्था में विचरण करे । ग्राम में एक रात्रि, तीर्थ में तीन रात्रि, नगर में पाँच रात्रि, तथा नगर क्षेत्र में सात रात्रि निवास करे । घर रहित स्थिर मति, अग्नि का सेवन करने वाला, निर्विकार, नियम–अनियम का त्याग, लाभ–हानि को समान समझने वाला होकर केवल प्राण रक्षा के लिए गौ वृत्ति से भिक्षा करे ।

ज्ञान होते हुए भी प्रकट में उन्मत्त की तरह रहे । अपने स्वरूप और आधार को किसी पर प्रकट न होने दे । उसके लिए दिन–रात समान होने से, वह सदैव जाग्रत अवस्था में ही रहता है ।

जब ब्रह्मा ने पूछा – भगवन्! यज्ञोपवीत, शिखा और सब कर्मों को त्याग देने वाला कैसे ब्रह्मनिष्ठ होता है ?

तब नारायण ने कहा : ऐसे यज्ञोपवीत उसका अद्वैतयुक्त आत्मज्ञान ही होता है । उसकी शिखा ध्यान निष्ठा रूप होती व अपने कर्मों से वह पवित्र होता है । वह सब कर्म कर चुका है । अतः वह ब्रह्मनिष्ठ परायण है । वह संसार में सबसे श्रेष्ठ है, जगद्गुरु है, ऐसा समझ लो वह मैं ही हूँ । ऐसा परमहंस परिब्राजक बहुत ही दुर्लभ, कहीं एकाध होते हैं ।

वह नित्य पवित्र है, वह महापुरुष है, जिसका चित्त मुझ में रहता है और मैं उसमें रहता हूँ । वह शीत–उष्ण, सुख–दुःख, मान–अपमान से रहित होता है । वह निन्दा और अमर्ष को सहन कर लेता है । वह छः उर्मियों से रहित है । वह बड़े या छोटे के विचार से रहित है ।

वह केवल अपने आत्मा को देखता है और किसी को नहीं । दिशायें ही उसके वस्त्र हैं, सब को नमस्कार नहीं करता, न स्वाहाकार, न स्वाधाकार, न विसर्जन । यह निंदा–स्तुति करने से दूर रहता है, मन्त्र–तन्त्र की उपासना नहीं करता, किसी अन्य देव के ध्यान रहित, लक्ष्यालक्ष्य से रहित, सबसे उपराम होता है । वह सच्चिदानन्द अद्वैत चिद्घन सम्पूर्ण आनन्द का बोध वाला और 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी अखण्ड भावना रखने वाला, कृतकृत्य हो जाता है । ऐसे को ही **परमहंस परिब्राजक** कहते है ।

विस्तार से जानने के लिये सम्पूर्ण उपनिषद् का स्वाध्याय आचार्य सम्मुख करें ।

शाट्यायनीयोपनिषत्

नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः ।
ॐमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्नौ जुहोति यत् ।।१६।।

ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोतमोतमः ।
ज्ञानदण्डा ज्ञानशिखा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।।१७।।

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति वेदानुशासनम् ।।१८।।

सभी उपनिषदों का अभ्यास स्वाध्याय यज्ञ कहा गया है । 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता हुआ सोऽहम् ब्रह्मरूपी अग्नि में आत्मा की आहुति दी जाती है अर्थात् व्यष्टि आत्म भाव को ब्रह्म में लीन किया जाता है । वह सभी उत्तम यज्ञों से उत्तम ज्ञानयज्ञ कहा गया है । इनका ज्ञान ही दण्ड है, ज्ञान ही शिखा चोटी है, तथा ज्ञान ही इनका यज्ञोपवीत है । जिसकी ज्ञानमयी शिखा तथा ज्ञानमय यज्ञोपवीत होता है उनकी सभी वस्तुएँ ब्रह्मरूप है ऐसा वेद का अनुशासन है (आज्ञा है)।

अवधूतोपनिषत्

जब सांकृति ने भगवान् दत्तात्रेय के पास जाकर पूछा – हे भगवन् ! अवधूत कौन है ? उसकी स्थिति कैसी होती है ? उसका चिह्न क्या होता है ? उसका संसार कैसा होता है ? यह सुनकर परम दयालु भगवान् दत्तात्रेय ने उससे कहा –

अक्षर त्वाद्वरेण्यत्वाद्धूत संसारबन्धनात् ।
तत्त्वमस्यादि लक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते ।।२।।

जो अक्षर अर्थात् अविनाशी बना हो, सबसे श्रेष्ठ हो, संसार रूप बन्धन से रहित हो और 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का लक्ष्यार्थ हो, वह अवधूत कहा जाता है ।

यो विलंघ्याश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा ।
अतिवर्णाश्रमी योगो अवधुतः स कथ्यते ।।३।।

जो योगी आश्रम तथा वर्ण को उलांघ कर आत्मा में ही सदा रहता हो, वह वर्णाश्रम रहित योगी 'अवधूत' कहा जाता है ।

यथा रविः सर्वरसान्प्रभुङ्क्ते हुताशनश्चापि हि सर्वभक्षः ।
तथैव योगी विषयान्प्रभुङ्क्ते न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः ।।९।।

जिस प्रकार सूर्य सर्व रसों को ग्रहण करता है और अग्नि सबको खाता है, वैसे ही योगी विषयों को भोगता है तो भी शुद्ध होने से पाप–पुण्य का भागी नहीं बनता ।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न चा साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।११।।

सत्य बात यह है कि किसी का लय नहीं है, किसी की उत्पत्ति नहीं है, कोई बँधा हुआ नहीं है और कोई साधक नहीं है, कोई मुमुक्षु नहीं है और कोई मुक्त भी नहीं है । यहाँ एक ब्रह्मतत्त्व के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है ।

येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ।
निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छमि न करोमि च ।।१६।।

द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्तु किं मे स्यादन्यकल्पनात् ।
गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मा नैवमहं भजे ।।१७।।

जिसको इस बात का अधिकार हो, वे भले ही प्रवचन किया करे और चाहे वेदों को पढ़ाते रहे, पर मुझे तो इसका अधिकार ही नहीं क्योंकि मैं क्रिया रहित हूँ । मैं निद्रा की, भिक्षा की, स्नान अथवा शौच की इच्छा नहीं करता । मेरे भीतर तो संसार के धर्मों का आरोप ही नहीं, इसलिए मैं किसी का भी भजन नहीं करता ।

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ।।१८।।

विपर्यस्तो निदिध्यासे किं ध्यानमविपर्यये ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजम्याहम् ।।१९।।

जिन्होंने तत्त्व को जाना न हो, वे भले ही श्रवण करें ? जो संशय में पड़े हो वे ही मनन करे, मुझे तो संशय ही नहीं, इससे मैं मनन नहीं करता । जिसको विपर्यास (विपरीत मान्यता) हुई हो वह भले ही निदिध्यासन करे पर मुझे विपर्यास होता ही नहीं वहाँ ध्यान की क्या आवश्यकता है ? देह को आत्मा मान लेने का विपर्यास मुझे नहीं होता इसलिए मुझे निदिध्यासन की क्या आवश्यकता है ?

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ।।२३

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यप्रापणीयं प्राप्तमित्येव नित्यशः ।।२४

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा ।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ।।२५

मुझे विक्षेप होता ही नहीं इससे मुझे समाधि करने की आवश्यकता नहीं है । यह मन जब विकार वाला होता है तभी विक्षेप होता है और तभी उसे समाधि की आवश्यकता होती है । मैं तो नित्य अनुभव रूप हूँ । समाधि में मुझे और क्या भिन्न अनुभव हो सकता है ? मैंने जो करना है, वह किया और जो प्राप्त करना है वह सदैव प्राप्त किया हुआ ही है इसलिए लौकिक शास्त्रीय अथवा अन्य प्रकार का व्यवहार करने की कोई आवश्यकता नहीं । फिर मैं करता नहीं हूँ, मुझे किसी बात की लिप्तता नहीं है । केवल प्रारब्ध कर्म के अनुसार भले ही शरीर की प्रवृत्ति होती रहे, मैं तो उससे असंग, साक्षी मात्र हूँ ।

अथवा मैं कृत–कृत्य हूँ, तो भी लोगों पर अनुग्रह करने की इच्छा से यदि शास्त्रानुसार चलता हूँ तो इससे मेरी क्या हानि है ? देवपूजा, स्नान, शौच, भिक्षा आदि में भले ही शरीर प्रवृत्ति करे, वाणी ॐकार का जाप भले ही जपे, इसी प्रकार उपनिषदों का पाठ भले ही करे, बुद्धि विष्णु का ध्यान भले ही करे अथवा भले ही ब्रह्मानन्द में लीन हो, मैं तो केवल साक्षी हूँ, अर्थात् इनमें से में किसी काम को करता नहीं और कराता भी नहीं । मैं कृतकृत्य होने से तृप्त हूँ, और जो प्राप्त कराना है उसे मैंने प्राप्त कर लिया है, इस प्रकार अपने मन में निरन्तर मानता रहता हूँ ।

फिर मैं धन्य हूँ – धन्य हूँ, मुझे धन्य है, धन्य है क्योंकि अपने आत्मा को अनायास ही जानता हूँ । मुझे धन्य है क्योंकि मुझे ब्रह्मानन्द स्पष्ट प्रकाशित करता है । मुझे धन्य है – धन्य है, क्योंकि संसार का दुःख अब मैं नहीं देखता । मैं धन्य हूँ – धन्य हूँ, क्योंकि मेरा अज्ञान कभी का नष्ट हो चुका है, मुझे धन्य है – धन्य है क्योंकि मुझे कुछ भी करना नहीं है । मैं धन्य हूँ– धन्य हूँ कि जो कुछ प्राप्त करना है वह मैंने यहीं प्राप्त कर लिया है । मैं धन्य हूँ –

धन्य हूँ, मेरी तृप्ति की लोक में कोई उपमा है ? (अर्थात् मेरे समान कोई नहीं है) । मैं धन्य हूँ मैं धन्य हूँ मैं बारम्बार धन्य हूँ – धन्य हूँ, अहो पुण्य ! अहो पुण्य ! इस पुण्य की सम्पत्ति दृढ़ फली है । अहो हम ! (धन्य है) अहो हम ! अहो ज्ञान ! अहो ज्ञान । अहो सुख ! अहो शास्त्र ! अहो मैं ! अहो गुरु ! (वास्तव में यह तीनों धन्यवाद के पात्र हैं) ।

इस प्रकार जो मनुष्य इस उपनिषद को पढ़ता है, वह कृतकृत्य होता है, मदिरापान किया हो तो भी वह पवित्र होता है, सुवर्ण चूराया हो तो भी पवित्र होता है, ब्रह्महत्या की हो तो भी पवित्र होता है, कार्य–अकार्य किया हो तो भी पवित्र होता है । ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् स्वेच्छानुसार (आत्मानुकूल में) प्रवृत्त हो सकता है । ॐ सत्यम् ।

ईशावास्योपनिषत्

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।।१

अखिल ब्रह्माण्ड में जड़ चेतन स्वरूप जो विश्व है, वह सर्व व्याप्त ईश्वर से परिपूर्ण है । अतः तुम ईश्वर को साथ रखते हुए इस विश्व को त्यागपूर्वक भोगते रहो । लालच मत करो, क्योंकि यह धन आदि भोग्य पदार्थ किस का है ? वस्तुतः यह भोग्य पदार्थ किसी के भी नहीं है ।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्थ तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५

देह स्थित आत्म देव चलते हैं, स्थिर भी हैं । वे अज्ञानी के लिये दूर से दूर है एवं ज्ञानी के लिये अपने पास से पास अर्थात् आत्म रूप में हैं । वे इस सम्पूर्ण विश्व के भीतर परिपूर्ण है तथा इस विश्व के बाहर भी हैं ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।६।।

परन्तु जो व्यक्ति सम्पूर्ण प्राणियों को परमात्मा में ही देखता रहता है तथा सब प्राणियों में परमात्मा को देखता है, वह कभी किसी से घृणा नहीं करता ।

यस्मिन् सर्वाणी भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।७।।

जिस अवस्था में परमात्मा को जानने वाले विद्वान् पुरुष के लिए सभी प्राणी परमात्मा रूप हो जाते हैं, उस अवस्था में एकमात्र सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का निरन्तर साक्षात्कार करने वाले योगी पुरुष के लिए कौन–सा मोह अथवा शोक रह जाता है ।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयऽस ह ।
अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते ।।११।।

जो मनुष्य विद्या रूप ज्ञान–तत्त्व और अविद्या रूप कर्म तत्त्व को साथ ही साथ जान लेता है, वह कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार कर ज्ञान के अनुष्ठान से अमृतत्व का उपभोग करता है ।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याऽरताः ।।१२।।

जो मनुष्य नाशवान देव, पितर–मानव आदि की उपासना करता है, वह अज्ञानयुक्त घोर अन्धकार में पड़ता है और अविनाशी ब्रह्म की उपासना द्वारा अमृत को भोगता है ।

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि् ।।१६।।

जो वह परम पुरुष है मैं भी वही हूँ ।

केनोपनिषत्

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचश्यस उ प्राणस्य
प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।२।

जो मन का मन है, प्राण का प्राण है, वाक् इन्द्रिय की वाणी है, कर्णेन्द्रिय का श्रोत्र है चक्षु का चक्षु है, वही ज्ञानी पुरुष इस लोक से जाते हुए जीवन्मुक्त होते और अमर हो जाते हैं । वहाँ न तो चक्षु पहुँचती है, न वाणी पहुँचती है, और न मन ही पहुँच सकता है । जो वाणी के द्वारा नहीं कहा गया, जिसके द्वारा वाणी बोली जाती है, उसे ही ब्रह्म जानो । वाणी द्वारा कहे जाने वाले जिस तत्त्व की उपासना की जाती है, वह तत्त्व ब्रह्म नहीं है । कोई भी इस ब्रह्म को मन के द्वारा समझ नहीं सकता, परन्तु मन जिसकी शक्ति पाकर जाना हुआ हो जाता है । ज्ञानी जन जिसे ब्रह्म कहते हैं, उसे तू ब्रह्म समझ । अज्ञानी लोग जिसे ब्रह्म रूप बताते हैं वह कल्पित मूर्ति ब्रह्म का वास्तविक रूप नहीं है । जो मन, बुद्धि द्वारा गम्य है ऐसे तत्त्व की उपासना, ब्रह्म की उपासना नहीं है ।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।६

यच्छ्रोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।७

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्राणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।८

जिसे कोई नेत्रों से भी नहीं देख सकता, परन्तु जिसके द्वारा नेत्र को

दर्शन शक्ति प्राप्त होती है, तू उसे ही ब्रह्म जान । नेत्रों द्वारा दिखाई देने वाले जिस तत्त्व की मनुष्य उपासना करते हैं । वह ब्रह्म नहीं है । जिसके शब्द को कानों के द्वारा कोई सुन नहीं सकता, किन्तु जिससे इन श्रोत्रेन्द्रियों को श्रवण शक्ति प्राप्त होती है, उसी को तू ब्रह्म समझ । परन्तु श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सुने जाने वाले जिस तत्त्व की उपासना की जाती है वह ब्रह्म नहीं है । जो प्राण के द्वारा प्रेरित नहीं होता, किन्तु जिससे प्राण प्रेरणा प्राप्त करता है उसे तू ब्रह्म जान । प्राण शक्ति से चेष्टावान् हुए जिस तत्त्वों की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं है ।

द्वितीय खण्ड

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद चः ।।२।।

मैंने ब्रह्म को भले प्रकार जान लिया है, ऐसा अभिमानी पुरुष ब्रह्म को नहीं जानता और ऐसा भी नहीं मानता हूँ कि ब्रह्म को मैं नहीं जानता क्योंकि जानता भी हूँ । जो समझता है कि ब्रह्म जाना नहीं जा सकता, उसके द्वारा जाना हुआ समझ ।

यस्मातं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।३

परन्तु जो यह मानता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ, वह उसे निश्चय ही नहीं जानता है । जो उसे जानने का अभिमान रखते हैं उनके लिए वह अविदित है, परन्तु जो जानते हुए अनजान बनते हैं, ब्रह्म को वे ही जानते हैं ।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।५

यदि इस देह में ही ब्रह्म को पहचान लिया तब तो यथार्थ सुख है ही, परन्तु यदि इस देह के रहते हुए उसे नहीं जान सका तब महान् विनाश ही जान । ज्ञानी जन प्रत्येक प्राणी में ब्रह्म को विद्यमान मानकर इस लोक से अमर हो जाते हैं ।

कठोपनिषत्

साधन रूप श्रेय और भोग रूप प्रेय, यह दोनों ही मनुष्य के आगे आते हैं, परन्तु मेधावी पुरुष उन दोनों के स्वरूप का भले प्रकार मनन कर प्रेय की अपेक्षा श्रेय को ही श्रेष्ठ मानता है और अल्प बुद्धि मनुष्य सांसारिक भोगों का ग्रहण करना ही उचित समझता है ।

प्रथम अध्याय (द्वितीय वल्ली)

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
श्रण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।।७।।

वैभव के मोह में पड़े हुए प्रमादी व्यक्ति को परलोक की बात नहीं सूझती, उसे तो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाला लोक ही सत्य प्रतीत होता है । आत्म–ज्ञान अत्यन्त गूढ़ है, अनेकों मनुष्य तो इसे पाते भी नहीं । जो लोग सुनते हैं उनमें से अधिकांश समझ ही नहीं सकते । ऐसे गूढ़ तत्त्व को कहने वाला भी आश्चर्यमय होता है और जो ऐसे वक्ता को ढूँढ़ निकालता है वह चतुर मनुष्य भी कोई विरला ही होगा ।

जानाम्यहँ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नचिकेतश्चितोऽग्नि रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवान स्मि नित्यम्।१०।।

कर्म–फल रूप निधि अनित्य है, यह मैं जानता हूँ । अनित्य पदार्थों के द्वारा नित्य पदार्थ प्राप्त नहीं होता ।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतिश्चन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।१८।।

यह आत्मा तो अजन्मा नित्य सदा रहने वाला और सनातन है । शरीर के नष्ट होने अथवा नष्ट किए जाने पर भी यह नहीं मरता ।

असीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुर्महति ।२१।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।२२।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनम्स्वाम् ।।२३

वह परमेश्वर बैठा हुआ ही दूर चला जाता है, शयन करता हुआ ही सब और जाता है । वह ईश्वर अपने ऐश्वर्य में मत्त कभी नहीं होता । उसे मेरे सिवा अन्य कौन जान सकता है ? वह परमेश्वर सर्वव्यापी है । अस्थिर शरीर में विदेह, अविचल एवं महान है । 'मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार जानने वाला विज्ञ पुरुष कभी शोकातुर नहीं होता । वह परमेश्वर कहने, सुनने से अथवा बुद्धि से प्राप्त नहीं होता किन्तु जिस पर उसकी कृपा होती है, उसी के द्वारा प्राप्त हो सकता है । क्योंकि वह अपने कृपा–पात्र पर ही अपने रूप को प्रकट करता है ।

तृतीय वल्ली

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।१४।

उठो, जागो ! उत्तम पुरुष के संसर्ग में परमेश्वर को जानो क्योंकि बुद्धिमान पुरुष, उसके मार्ग को उस्तर की तीक्ष्ण धार के समान दुर्गम बनाते हैं ।

द्वितीय अध्याय (प्रथम वल्ली)

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।१०

जो मनुष्य इस लोक में परमेश्वर को अनेक रूपों वाला देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है क्योंकि वह नहीं जानता कि जो परमेश्वर है, वह सर्वत्र समान है, वही वहाँ भी है अथवा जो परलोक में है वह इहलोक में स्थित है ।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्यु गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।११।
अंङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।

यह सत्य मन के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है । इस लोक में अनेकत्व किंचित् नहीं है । जो मनुष्य अनेकत्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है । वह परम पुरुष अंगुष्ठ मात्र देह गह्वर में स्थित होकर भूत भविष्यत् आदि सब कालों पर शासन करता है ।

द्वितीय वल्ली

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा
स्तेषां शान्तिः शाश्वति नेतरेषाम् ।।१३।।

जो परमात्मा समस्त अनित्य, अचेतन दृश्य जगत् को नित्यता एवं चेतनता प्रदान करने वाला है, जो सूर्य की तरह जाति, भाषा, भोजन एवं गुण कर्म स्वभाव के भेद किये बिना सभी को चेतना, शक्ति प्रदान करता है, एवं उनके कर्मों के अनुसार वर्तमान शरीर, परिवार, सुख–दुःख, लाभ–हानि, मानापमान, यश–अपयश, विद्या–बल, धन, फल प्रदान करता है । उस ऐसे व्यापक समदर्शी परमात्मा को जो विवेकी जन समस्त जीवों एवं हृदय में आत्मा रूप से उसकी उपस्थिति अनुभव करते हैं, उन्हीं के मन में

अखण्ड शान्ति एवं जीवनमुक्ति का अनुभव होता है; किन्तु जो इस अन्तर्यामी हृदय मन्दिर में स्थित परमात्मा को सबके आत्म स्वरूप न जान केवल किसी चित्र, मूर्ति आकार रूप में ही भगवान को मानते हुए प्रार्थना, पूजा, दान–ध्यान, व्रत उपवास, कीर्तन–भजन करते हैं और चैतन्य प्राणियों में विद्यमान परमात्मा का तिरस्कार, निंदा, गाली, चोरी, हत्या, छल–कपट करते हैं, असहाय निर्बल को दुःख पहुँचाकर उसके अश्रु प्रवाहित करते रहते हैं, पशु हत्या कर मांस मछली अंडा खाते रहते हैं, शराब, सिगरेट का सेवन करते रहते हैं, ऐसे अज्ञानी को कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।१५।।

वहाँ सूर्य, चन्द्रमा, तारागण और यह विद्युत आदि प्रकाशित नहीं होते, फिर यह अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकती है ? क्योंकि उस ब्रह्म के प्रकाशित होने पर ही सब प्रकाशित होते हैं । यह सम्पूर्ण विश्व ही उससे प्रकाशित है ।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।५।।

हे नचिकेता ! कोई भी देहधारी प्राण या अपान से ही जीवित नहीं रहता किन्तु जिसमें ये दोनों आश्रित हैं, ऐसे अन्य के द्वारा ही जीवित रहता है ।

मुण्डकोपनिषत्

प्रथम मुण्डक (द्वितीय खण्ड)

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्कृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।१२।।

कर्मों द्वारा उपलब्ध नाशवान लोकों को जानकर ब्राह्मण उनसे वैराग्य धारण करे तथा उस ब्रह्म का ज्ञान पाने के लिए समिधायें हाथ में लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु का आश्रय ले, क्योंकि केवल किये हुए अनित्य कर्मों से तो परमेश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

द्वितीय मुण्डक (प्रथम खण्ड)

..... ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।४

यही सब प्राणियों में आत्मा रूप से प्रतिष्ठित है ।

द्वितीय खण्ड

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।८।।

उस परब्रह्म को आत्म रूप से जानने पर हृदय–ग्रन्थि स्वयं खुल जाती है और संशय नष्ट हो जाते हैं । इसके साथ अनादि संचित् शुभ–अशुभ कर्म भी क्षीण हो जाते हैं ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।१०।।

वहाँ सूर्य, चन्द्रमा, तारागण विद्युत् आदि का प्रकाश नहीं होता तो अग्नि का प्रकाश ही कहाँ होगा ? केवल ब्रह्म के प्रकाश से सभी प्रकाशित होते हैं और सम्पूर्ण विश्व ही उसके प्रकाश से प्रकाशित है ।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।११

वह ब्रह्म अमृत रूप है, वही सामने और वही पीछे है, दाँयी और बाँयी ओर भी वही है, नीचे और ऊपर की ओर भी विस्तृत है । यह सम्पूर्ण विश्व ही महान् ब्रह्म है ।

तृतीय मुण्डक (प्रथम खण्ड)

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।१।।

सहवासी, सखा–भाव वाले दो पक्षी एक वृक्ष के आश्रय में रहते हैं । उनमें से एक तो उस वृक्ष के कर्म–फलों का स्वाद लेता है और दूसरा अनशन करता हुआ केवल देखता है । देह रूप वृक्ष पर निवास करने वाला जीवात्मा मोह में डूबा रह कर शोक–संतप्त होता है, परन्तु जब सद्गुरु की किसी कृपा से परमात्मा की महिमा का ज्ञान प्राप्त करता है, तब शोक से मुक्त हो जाता है ।

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धतत्त्वः कामयते याश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते ताश्च कामां–
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ।।१०।।

ऐश्वर्य की अभिलाषा वाला मनुष्य आत्मज्ञानी की सेवा करे । क्योंकि शुद्ध मन वाला ज्ञानी मन से जिस और जिन भोगों की इच्छा करता है वह उस–उस लोक अथवा उन–उन भोगों को प्राप्त करने में समर्थ होता है ।

द्वितीय खण्ड

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।।३।।

वह परमात्मा वेदान्त प्रवचन व श्रवण, मनन द्वारा प्राप्त हो सकता है क्योंकि उस शासक को अपना स्वरूप दिखा देता है ।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः ।

यथा नद्यः स्यन्दमाना समुर्दे–
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।८।।

जो वेदान्त ज्ञान द्वारा परमेश्वर को जान चुके हैं वे परमात्मा ही होते हैं । प्रवाहमान नदियाँ जैसे अपने नाम–रूप को मिटाकर समुद्र में मिल जाती हैं वैसे ही ज्ञानीजन अपने नाम, रूप का त्यागकर सर्वश्रेष्ठ दिव्य पुरुष में लीन हो जाते हैं ।

..... ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।।९।।

जो उस परमेश्वर को जान लेता है वह ब्रह्मरूप हो जाता है ।

तदेतदृचाभ्युक्तम् क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः
स्वयं जुह्वत् एक ऋषि श्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रतं विधि वद्यैस्तु चीर्णम् ।।१०।। माण्डुक्य उपनिषद

ब्रह्मविद्या उन्हीं को बतानी चाहिए जो वेद के जानने वाले ब्रह्मनिष्ठ, श्रद्धावान, नियमपूर्वक ज्ञान यज्ञ करने वाले हैं, जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत का पालन किया है और जो निष्काम कर्म द्वारा साधना करते हैं ।

'सर्वथ्यहोतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म'।।२।।

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है, यह आत्मा भी ब्रह्म है ।

ऐतरेय उपनिषत्

तृतीय अध्याय (प्रथम खण्ड)

......प्रज्ञानं ब्रह्म ।।३ ।।

यह ज्ञान स्वरूप आत्मा ही ब्रह्म है । उसी परमात्मा में सब लोक स्थित है और वह सब का आश्रय रूप है ।

हम जिस आत्मा की उपासना करते हैं वह कौन है ? जिससे मनुष्य देखता है, सुनता, गन्ध लेता और स्वाद लेता है, वह आत्मा कौन है ? यह जिज्ञासा होने पर शिष्य अपने सद्गुरु की कृपा से 'तत्त्वमसि' उपदेश प्राप्त करलेता है । अर्थात् जिस ब्रह्म को तू जानना चाहता है, 'वह तू ही है' ।

तैत्तिरीय उपनिषत्

ब्रह्मानन्द बल्ली (चतुर्थ अनुवाक)

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति ।

जिस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त मन, वाणी उसे न पाकर लौट आते हैं, उनका ज्ञाता विज्ञानी कभी भयभीत नहीं होता है । शरीर में निवास करने वाला आत्मा ही परमात्मा है ।

अष्टम अनुवाक

ते ये शतं मानुषां आनन्दाः । स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते ते शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः । स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते ते शतं देवगन्धर्वाणामानन्दः स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते ते शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः । स एक आजानजानां देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

त ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

अब आनन्द विषयक विवेचन किया जाता है – सदाचारी युवक शिष्ट वेदाध्ययनयुक्त, स्वस्थ, वलिष्ठ हो, इस पर भी उसे वैभवयुक्त पृथिवी मिल जाए, तो यह संसार एक आनन्द है ।

मनुष्य के सौ आनन्द मानव–गन्धर्व के एक आनन्द के तुल्य है । वे आनन्द शुद्ध अन्तःकरण वाले श्रोत्रिय मनुष्य के लिये स्वभाव से ही प्राप्त है ।

मानव–गन्धर्वों के सौ आनन्द देव–गन्धर्वों के एक आनन्द के बराबर है और जिसकी कामनायें नष्ट हो चुकी है, उस श्रोत्रिय मनुष्य को वे स्वभाव से ही प्राप्य है ।

जो पितर स्थायी रूप से पितृलोक पा चुके हैं उनके सौ आनन्द आजानज संज्ञक देवताओं का एक आनन्द है और वे कामनामुक्त वेदवेत्ता को स्वभावतः प्राप्त है ।

जो कर्म–देवों के सौ आनन्द है, वे देवताओं का एक आनन्द के समान है, और नष्ट काम्य वेदज्ञ के लिए, वे आनन्द स्वभाव से ही प्राप्त है ।

देवताओं के सौ आनन्द के समान इन्द्र का एक आनन्द है, जो वेदवेत्ता कामनाओं से मुक्त हो चुका है वह इस आनन्द को स्वभाव से संभाव्य है ।

इन्द्र का सौ आनन्द के समान बृहस्पति का एक आनन्द है । जो वेदवेत्ता कामनाओं से मुक्त हो चुका है, वह इस आनन्द को स्वभाव से ही प्राप्त करलेता है ।

बृहस्पति का सौ आनन्द प्रजापति का एक आनन्द है । वेद को जानने वाला, मुक्तकाम्य पुरुष उस आनन्द को स्वभाव से ही प्राप्त करलेता है ।

प्रजापति का सौ आनन्द के समान ब्रह्म का एक आनन्द है । वेद को जानने वाला, कामना से मुक्त पुरुष उस आनन्द को स्वभाव से ही प्राप्त करलेता है ।

मनुष्यों में और सूर्य में जो नीहित है वह एक ही है । इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी इस लोक को त्यागकर अन्नमय कोष को पारकर फिर इस प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोष को भी पार कर आनन्दघन आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है ।

मनुष्य लोक के आनन्द से बढ़ते हुए प्रजापति के सौ आनन्द के समान ब्रह्म का एक आनन्द है । वेद के जानने वाले, कामनाओं से मुक्त पुरुष उस आनन्द को स्वभाव से ही पा लेता है ।

भृगु बल्ली, (प्रथम अनुवाक)

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ।

भृगु नाम से प्रसिद्ध एक ऋषि थे, जो वरूण के पुत्र थे । उनके मनमें परमात्मा को जानने और प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा हुई, तब वे अपने पिता वरुणजी के पास गये । उनके पिता वरूण वेदको जाननेवाले, ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष थे, अतः भृगुको किसी दूसरे आचार्य के पास जाने की आवश्यकता नहीं हुई । अपने पिताके पास जाकर भृगुने इस प्रकार प्रार्थना की– 'भगवन् ! मैं ब्रह्मको जानना चाहता हूँ, अतः आप कृपा करके मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये ।' तब वरूणने भृगुसे कहा **'तात ! अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी – ये सभी ब्रह्मकी उपलब्धि के द्वार हैं । इन सब में ब्रह्मकी सत्ता स्फुरित हो रही है ।'** साथ ही यह भी कहा – **'ये प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले सब प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिनके संयोग से, जिनका बल पाकर ये सब जीते हैं – जीवनोपयोगी क्रिया करने में समर्थ होते हैं और महाप्रलयके समय जिनमें विलीन हो जाते हैं, उनको वास्तव में जानने की (पाने की) इच्छा कर । वे ही ब्रह्म है ।'** इस प्रकार पिताका उपदेश पाकर भृगु ऋषिने ब्रह्मचर्य और शम–दम आदि नियमों का पालन करते हुए तथा समस्त भोगोंके त्यागपूर्वक संयम से रहते हुए पिता के उपदेश पर विचार किया । यही उनका तप था ।

इस प्रकार विचार रूपी तप करके उन्होंने क्या किया, यह बात आगे कही गयी है ।

भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि **अन्न ही ब्रह्म है**, क्योंकि पिताजीने ब्रह्मके जो लक्षण बताये थे, वे सब अन्नमें पाये जाते हैं । समस्त प्राणी अन्नसे–अन्नके परिणामभूत वीर्य से उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही उनका जीवन सुरक्षित रहता है और मरने के बाद अन्नस्वरूप इस पृथ्वी में ही प्रविष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार निश्चय करके वे पुनः अपने पिता वरूण के पास आये ।

आकर अपने निश्चय के अनुसार उन्होंने सब बातें कहीं । पिताने कोई उत्तर नहीं दिया । उन्होंने सोचा – 'इसने अभी ब्रह्मके स्थूल रूपको ही समझा है, वास्तविक रूप तक इसकी बुद्धि नहीं गयी है, अतः इसे तपस्या करके अभी और विचार करनेकी आवश्यकता है । पर जो कुछ इसने समझा है, उसमें इसकी तुच्छ बुद्धि कराकर अश्रद्धा उत्पन्न कर देनेमें भी इसका हित नहीं है, अतः इसकी बात का उत्तर न देना ही ठीक है ।' पितासे अपनी बातका समर्थन न पाकर भृगुने फिर प्रार्थना की – 'भगवन् ! यदि मैंने ठीक नहीं समझा है तो आप मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये ।'

तब वरूणने भृगु को कहा – 'तू विचार रूपी तपके द्वारा ब्रह्मके तत्त्वको समझनेकी कोशिश कर । यह तप ब्रह्म का ही स्वरूप है, अतः यह उनका बोध करानेमें सर्वथा समर्थ है ।' इस प्रकार पिता की आज्ञा पाकर भृगु ऋषि पुनः पहलेकी भाँति तपोमय जीवन बिताते हुए पितासे पहले सुने हुए उपदेशके अनुसार ब्रह्मका स्वरूप निश्चय करने के लिये विचार करते रहे क्योंकि अनित्य कर्मों के द्वारा नित्यप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है । साधन साध्य सभी लोक, वस्तु, सिद्धि नाशवान् होती है । नित्यसिद्ध आत्मवस्तु की अनुभूति तो एकमात्र विचार द्वारा ही सम्भव होती है। इस प्रकार विचार रूपी तप करके उन्होंने क्या किया, यह बात आगे कही गयी है ।

भृगु पिताके उपदेशानुसार तपके द्वारा यह निश्चय किया कि **प्राण ही ब्रह्म है**; उन्होंने सोचा, पिताजी द्वारा बताये हुए ब्रह्मके लक्षण प्राणमें

पूर्णतया पाये जाते हैं । समस्त प्राणी प्राणसे उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एक जीवित प्राणीसे उसीके सदृश दूसरा प्राणी उत्पन्न होता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है; तथा सभी प्राण से ही जीते हैं । यदि श्वासका आना–जाना बन्द हो जाय, यदि प्राण द्वारा अन्न ग्रहण न किया जाय तथा अन्नका रस समस्त शरीरमें न पहुँचाया जाय तो कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता और मरने के बाद सब प्राणमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं । यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मृत शरीरमें प्राण नहीं रहते; अतः निःसन्देह प्राण ही ब्रह्म है, यह निश्चय करके वे पुनः अपने पिता वरुणके पास गये । पहले की भाँति अपने निश्चय के अनुसार उन्होंने पुनः पिता से अपना अनुभव निवेदन किया । पिताने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया । उन्होंने सोचा कि यह पहले की अपेक्षा तो कुछ सूक्ष्मतामें पहुँचा है; परंतु अभी बहुत कुछ समझना शेष है; अतः उत्तर न देना ही ठीक है । क्योंकि उत्तर न देनेसे अपने–आप इसकी जिज्ञासामें बल आयेगा; पिताजीसे अपने बातका समर्थन न पाकर भृगुने फिर उनसे प्रार्थना कि – 'भगवन् ! यदि अब भी मैंने ठीक न समझा हो तो आप ही कृपा करके मुझे ब्रह्म का तत्त्व समझाइये ।' तब वरुणने पुनः वही बात कही – 'तू विचार रूपी तपके द्वारा ब्रह्मको जानने की चेष्टा कर; यह तप ही ब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्मके तत्त्वको जानने का यही प्रधान साधन है ।' इस प्रकार पिताजी की आज्ञा पाकर भृगु ऋषि फिर उसी पर विचार करते रहे । तपस्या करके उन्होंने क्या निर्णय किया, यह आगे बताया गया है ।

इस बार भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि **मन ही ब्रह्म है**; उन्होंने सोचा, पिताजी के बताये हुए ब्रह्मके सारे लक्षण मनमें पाये जाते हैं । मनसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं – स्त्री और पुरुषके मानसिक प्रेमपूर्ण सम्बन्ध से ही प्राणी बीज रूपसे माताके गर्भमें आकर उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मन से ही इन्द्रियों द्वारा समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओं का उपभोग करके जीवित रहते हैं और मरने के बाद मनमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं – मरने के बाद इस शरीर में प्राण और इन्द्रियाँ नहीं रहती, इसलिये मन ही ब्रह्म है । इस प्रकार निश्चय करके वे पुनः पहलेकी भाँति अपने पिता वरुण के पास गये और उन्होंने अपने अनुभवकी बात पिताजी को सुनायी । इस बार भी पिता से कोई उत्तर नहीं मिला । पिताने सोचा कि

यह पहले की अपेक्षा तो गहराईमें उतरा है, परंतु अभी इसे और भी गहराई से विचार करना चाहिये; अतः उत्तर न देना ही ठीक है । पितासे अपनी बातका उत्तर न पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति प्रार्थना की – 'भगवन् ! यदि मैंने ठीक न समझा हो तो कृपया आप ही मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये ।' तब वरुणने पुनः वही उत्तर दिया – 'तू विचार रूपी तपके द्वारा ब्रह्मके तत्त्व को जानने की इच्छा कर । यह विचार रूप तप साधन ही ब्रह्म है । '**वस्तुसिद्धि विचारेण न किञ्चित्कर्म कोटिभिः**' ब्रह्म को जानने का इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं हैं । इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर भृगुने पुनः पहले की भाँति संयमपूर्वक रहकर पिताके उपदेश पर विचार किया ।

विचार करके उन्होंने यह निश्चय किया कि – **यह विज्ञानस्वरूप चेतन जीवात्मा ही ब्रह्म है;** भृगु ने सोचा – पिताजी ने जो ब्रह्मके लक्षण बताये थे, वे सब–के–सब पूर्णतया इसमें पाये जाते हैं । ये समस्त प्राणी जीवात्मासे ही उत्पन्न होते हैं, सजीव चेतन प्राणियों से ही प्राणियों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है । उत्पन्न होकर इस विज्ञानस्वरूप जीवात्मासे ही जीते हैं; यदि जीवात्मा न रहे तो ये मन, इन्द्रियाँ, प्राण आदि कोई भी शरीर में नहीं रह सकते और कोई भी अपना काम नहीं कर सकते तथा मरने के बाद ये मन आदि सब जीवात्मा में ही प्रविष्ट हो जाते हैं – जीव के निकल जानेपर मृत शरीरमें यह सब देखनेमें नहीं आते । अतः विज्ञानस्वरूप जीवात्मा ही ब्रह्म है । यह निश्चय करके वे पहलेकी भाँति अपने पिता वरुण के पास आये ।

आकर उन्होंने अपने निश्चित अनुभवकी बात पिताजी को सुनायी । इस बार भी पिताजीने कोई उत्तर नहीं दिया । पिताने सोचा– इस बार यह बहुत कुछ ब्रह्मके निकट आ गया है, इसका विचार स्थूल और सूक्ष्म–दोनों प्रकारके जड तत्त्वोंसे ऊपर उठकर चेतन जीवात्मा तक तो पहुँच गया है । परन्तु ब्रह्मका स्वरूप तो इससे भी विलक्षण है, वे तो नित्य आनन्द स्वरूप एक अद्वितीय परमात्मा हैं । इसे अभी और तपस्या करनेकी आवश्यकता है, अतः उत्तर न देना ही ठीक है ।' इस प्रकार बार–बार पिताजीसे कोई उत्तर न मिलनेपर भी भृगु हतोत्साह या निराश

नहीं हुए । उन्होंने पहले की भाँति पुनः पिताजी से वही प्रार्थना की – 'भगवन् । यदि मैंने ठीक न समझा हो तो आप मुझे ब्रह्मका रहस्य बतलाइये ।' तब वरुणने पुनः वही उत्तर दिया – 'तू विचार रूपी तपके द्वारा ही ब्रह्मके तत्त्वको जानने की इच्छा कर । अर्थात् तपस्यापूर्वक उसका पूर्व कथनानुसार विचार कर । ज्ञान तप ही ब्रह्म है ।' इस प्रकार पिताजी की आज्ञा पाकर भृगुने पुनः पहले की भाँति संयमपूर्वक रहते हुए पिताके उपदेश पर विचार किया । विचार करके उन्होंने क्या किया, यह आगे बताया गया है ।

इस बार भृगुने पिताके उपदेश पर गहरा विचार करके यह निश्चय किया कि **आनन्द ही ब्रह्म है** । ये आनन्दघन परमात्मा ही अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञान मय, आनन्दमय आदि सबके अन्तरात्मा है । वे सब भी इन्हींके स्थूलरूप हैं । इसी कारण उनमें ब्रह्म बुद्धि होती है और ब्रह्मके आंशिक लक्षण पाये जाते हैं । परन्तु सर्वांशसे ब्रह्मके लक्षण आनन्द में ही घटते हैं, क्योंकि ये समस्त प्राणी उन आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा से ही सृष्टिके आदि में उत्पन्न होते हैं – इन सबके आदि कारण तो वे ही हैं तथा इन आनन्दघनके आनन्दका लेश पाकर ही ये सब प्राणी जी रहे हैं – कोई भी दुःखके साथ जीवित रहना नहीं चाहता । इतना ही नहीं उन आनन्दघन सर्वान्तर्यामी परमात्माकी अचिन्त्यशक्ति की प्रेरणासे ही इस जगत्के समस्त प्राणियों की सारी चेष्टाएँ हो रही है । उनके शासनमें रहनेवाले सूर्य, पवन, जल आदि यदि अपना–अपना काम न करें तो एक क्षण भी कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता । सबके जीवनाधार सचमुच वे आनन्दस्वरूप परमात्मा ही हैं तथा प्रलयकाल में समस्त प्राणियों से भरा हुआ यह ब्रह्माण्ड उन्हींमें प्रविष्ट होता है– उन्हींमें विलीन होता है, वे ही सब प्रकारसे सदा–सर्वदा सबके आधार हैं । इस प्रकार अनुभव होते ही भृगु को परब्रह्म का यथार्थ ज्ञान हो गया ! फिर उन्हें किसी प्रकार की जिज्ञासा नहीं रही ।

श्रुति में इस विद्या की महिमा वतलाया गया है कि – जो कोई मनुष्य भृगु की भाँति विचार रूपी तपस्या करके परमानन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को जान लेता है, वह भी उस विशुद्ध परमात्मा में स्थित हो जाता है ।

छांदोग्योपनिषत्

चौथा अध्याय

महर्षि रैक्व से ब्रह्मउपदेश

प्रसिद्ध जनश्रुति राजा के पुत्र का पौत्र श्रद्धापूर्वक दान करने वाला था । जिसके घर में बहुत सा अन्न पकाया जाता है । उसने अपने राज्य में इस विचार से विश्रामगृह बनवा दिये थे कि उसमें ठहरकर लोग उसका भोजन ग्रहण करें । फिर एक दिन राजा ने दो हंस रात्रि में उड़ते देखे । उनसे एक ने दूसरे से कहा – हे मन्ददृष्टि ! जनश्रुति राजा पौत्रायण का तेज कहीं तुझे जला न दे । दूसरे हंस ने कहा अरे तू किस दृष्टि से इस राजा की ऐसी महानता बखान रहा है । क्या यह गाड़ी वाले रैक्व के समान है । पहले हंस ने पूछा –'गाड़ी वाले कृत पाने से और सब नीचे हो जाते हैं । जैसे ताश के खेल में 'एका' के आधीन सब पत्ते अन्तर्गत हो जाते हैं । वैसे ही प्रजा जो शुभ कर्म करती है उस सबका फल इस रैक्व के पुण्य फल के अन्तर्गत हो जाता है । वह रैक्व जिस विद्याको जानता है उसे कोई नहीं जानता । उसके विषय में मुझे यह हंस द्वारा सुना गया है । हंस की बात को जनश्रुति पौत्रायण सुन रहा था । प्रातः काल उठते ही उसने स्तुति करने वाले सेवकों को कहा – 'अरे इस स्तुति को गाड़ीवाले रैक्व से कहो ।' सबने कहा –'गाड़ीवाला रैक्व कैसा होता है ?'

प्रजा जो शुभ कर्म करती है वह सब रैक्व के पुण्य–फल के अन्तर्भूक्त हो जाता है । जो विषय रैक्व जानता है उसे और कोई नहीं जानता है ।

ऐसा उसके विषय में मुझसे कहा गया है । राजा की आज्ञा से सब सेवक रैक्व को ढूँढने गये । सेवक ढूँढने से रेक्व को पा न सके और वापस लौट आये । तब राजा ने उससे कहा –'अरे जहाँ ब्रह्मवेत्ता को ढूँढना चाहिये ऐसे एकान्त स्थानों में उनको ढूँढो ।' वे सेवक जन निर्जन प्रेदश में गये तो उन्होंने गाड़ी के नीचे बैठे खुजाते हुए रैक्व को देखा और समीप जाकर विनय पूर्वक पूछा– 'भगवन् ! गाड़ी वाले रैक्व आप ही हो ? उसने कहा – 'मैं ही हूँ ।' यह जानकर सेवक वापस चले आये ।

तब जनश्रुति के पुत्र का पौत्र छः सौ गायें, हार, खच्चीरयुक्त रथ लेकर रैक्व के पास गया और उससे कहने लगा – 'हे रैक्व ! ये छः सौ गाये, यह हार और यह खच्चीरयुक्त रथ, मैं आपके लिये लाया हूँ, इनको ग्रहण कीजिये और हे भगवन् ! जिस देव की आप उपासना करते हो उसका मुझे उपदेश दीजिये ।

इस पर रैक्व ने कहा 'हे शुद्र ! गाय, हार और रथ तू ही रख, मुझे इनकी जरूरत नहीं है ।' इस पर जनश्रुति पौत्रायण ने फिर एक सहस्त्र गायें, हार, खचरी युक्त रथ अपनी कन्या लेकर रैक्व के पास जाकर कहने लगा– हे रैक्व ! ये सहस्त्र गायें, यह हार, यह रथ और यह आपकी पत्नीरूप मेरी पुत्री और यह गाँव जिसमें आप रहते हैं, मैं आपको भेंट करता हूँ । अब आप मुझे उपदेश करें । तब रैक्व ने राजा को संवर्ग विद्या का उपदेश किया । उस महापवित्र स्थान को **'रेक्व पूर्ण'** नाम से कहा जाता है ।

इन्द्रियों में श्रेष्ठता पर विवाद

पंचम अध्याय (प्रथम खंड)

एक समय प्राण, वाणी और इन्द्रियाँ परस्पर विवाद करने लगे कि मैं श्रेष्ठ हूँ – मैं श्रेष्ठ हूँ । तब वे इन्द्रियाँ प्रजापति रूप पिता के पास आकर पूछने लगी – 'हम में से कौन श्रेष्ठ हैं ?' उसने उत्तर दिया – 'तुममें से जिसके बाहर निकल जाने से शरीर सर्वाधिक शव रूप दिखाई पड़ने लगे वही श्रेष्ठ है ।' तब वाणी बाहर चली गयी । वह एक वर्ष तक प्रवास करके लौटी । उसने पूछा – 'मेरे बिना तुम जीने को कैसे समर्थ हुए ?' तब

इन्द्रियों ने कहा – 'जैसे गूंगा वाणी से न बोलते हुए भी प्राण से श्वासोच्छ्वास करते हैं, नेत्रों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं, मन से विचारते हैं और इस प्रकार जीते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे ।' तब वाणी लज्जित हो उसने शरीर में पुनः प्रवेश किया । तब चक्षु बाहर निकल गया और एक वर्ष प्रवास करके वापस आया । उसने पूछा – 'मेरे बिना तुम किस प्रकार जीवित रहे ?' अन्य इन्द्रियों ने कहा – 'जैसे अन्धा नेत्रों से नहीं देख सकता तो भी प्राणों से श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, कानों से सुनते, मन द्वारा विचार करते हुए जीवित रहता है, वैसे ही हम भी जीवित रहे ।' तब नेत्र लज्जित हो पुनः शरीर में प्रवेश कर गये । तब कान बाहर निकल गये और वर्ष भर तक प्रवास करके वापिस आये । उन्होंने पूछा – 'हमारे बिना तुम कैसे जीवित रहे ?' अन्य इन्द्रियों ने कहा – 'जिस प्रकार बहरे लोग सुनते नहीं हैं, तो भी प्राणों से श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, नेत्रों से देखते, मन से विचारते हुए जीते हैं, वैसे ही हम ही जीवित रहे ।' तब कान भी लज्जित हो पुनः शरीर में वापिस आ गये ।

तब मन बाहर चला गया और साल भर तक प्रवास करके वापस आया । उसने पूछा – 'मेरे बिना तुम किस प्रकार जीवित रहे।?' अन्य इन्द्रियों ने कहा जिस प्रकार छोटे बालक बिना मन के होने पर भी प्राण द्वारा श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, नेत्रों से देखते, कानों से सुनते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम भी जीते रहे ।' इस पर मन भी अहंकार शून्य हो शरीर में लौट आया । फिर प्राण ने बाहर आने कि इच्छा की । जिस प्रकार शक्तिशाली घोड़ा का पैर बाँधने से वह खूँटों को जोर से उखाड़ डालता है, वैसे ही प्राण, वाक् आदि अन्य इन्द्रियों को जोर से उखाड़ने लगा तब वे सब उसके समीप जाकर कहने लगी – हे भगवन् ! आप अपने स्थान पर वही रहो, तुम ही इस सबमें श्रेष्ठ हो, आप बाहर न जाओ । तब वाणी मुख्य प्राण से कहने लगी –'मैं जो वसिष्ठ हूँ, सो वास्तव में तुम्हीं वसिष्ठ हो । चक्षु ने कहा –'मैं जो प्रतिष्ठा कहलाता हूँ, सो तुम्हीं प्रतिष्ठा हो । कान ने कहा –'मैं जो संपदा कहा जाता हूँ सो तुम्हीं संपद् हो ।' फिर मन ने कहा– 'मैं जो आश्रय हूँ, तो तुम्हीं आश्रय हो ।' इसलिये लोक में इन्द्रियों

को वाणी, चक्षु, मन नहीं कहते, वरन् सबको 'प्राण' नाम से कहते है, क्योंकि प्राण ही सब कुछ होता है ।

षष्ठ अध्याय (द्वितीय खण्ड)

सत्त्वेव सोम्येदमग्र असी देकमेवाद्वितीयम् ।२।

तदैक्षत बहु स्यां ।३।

हे सोम ! सर्वप्रथम एक और अद्वितीय सत् ही था । इसने संकल्प किया मैं बहुत हो जाऊँ, उत्पन्न हो जाऊँ ।

अष्टम खण्ड

जब पुरुष सो जाता है तो वह जीव भाव त्याग कर ब्रह्म के साथ एकत्व भाव वाला हो जाता है । उस समय वह अपने सत् रूप को पा लेता है । वह अपने स्वरूप को पाया हुआ होता है । उसी प्रकार यह मन प्रत्येक दिशा का अनुभव करके अन्य विश्रामस्थल न पाकर प्राण का ही आश्रय लेता है, वह प्राण में बँधा है । इसलिए तू इस शरीर रूप कार्य को जल से ही उत्पन्न हुआ समझ ले । अन्न के सिवाय शरीर का मूल और कौन है ? इसी प्रकार तू अन्न रूप कार्य के मूल तेज को जान और प्राण रूप कार्य के मूल सत् तत्त्व को जान । इस प्रकार ये सब प्राणी सत् रूप मूल वाले हैं, सत् ही इनका आश्रय और सत् ही प्रतिष्ठा (परिशेष) है ।

हे प्रियदर्शन ! जल से उत्पन्न शरीर का मूल कहाँ हो सकता है ? जल का मूल तेज में होता है और तेज रूप कर्म का मूल सत् में होता है । ये समस्त प्राणी सत् रूप मूल वाले, सत् आश्रय वाले और सत् रूप ही परिशेष (अन्न) वाले हैं । इसी से मरने वाले पुरुष की वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में लय हो जाता है, प्राण तेज में लय हो जाता है और तेज 'पर दैवत्' में लीन हो जाता है । यह जो अणिमा (अणुरूप) है, वही सब है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वही तू है !' श्वेतकेतु ने कहा – 'भगवन् ! फिर समझावे !' पिता ने कहा – 'अच्छा' ।

नवम खण्ड

हे सौम्य ! जिस प्रकार मधु मक्खियाँ मधु लेने के लिये अनेक प्रकार के पुष्पों का रस लाकर उन सबकी एकता कर देती है । जिस प्रकार ये एकता को प्राप्त रस यह नहीं कहते कि 'मैं अमुक पौधे, वृक्ष के पुष्पों का रस हूँ,मैं अमुक का हूँ ।' उसी प्रकार ये सब प्राणी सत् को प्राप्त हो गये । इस लोक में व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, वराह, कीट, पतङ्ग, डाँस, मच्छर जो–जो होते हैं वे ही पुनः जाग्रत दशा में हो जाते हैं । वह जो अणु रूप (आत्मा वाला) जगत् है वह सत्य है । हे श्वेतकेतु ! तू भी वही है । श्वेतकेतु ने कहा– 'भगवन ! मुझे फिर समझाओ । पिता ने कहा अच्छा ।

हे सौम्य ! ये पूर्व की तरफ वाली नदियाँ पूर्व की और बहती है और पश्चिम वाली पश्चिम की तरफ वहती है । समुद्र से आति है और फिर उसी में पहुँच जाती है । जैसे वे नदियाँ समुद्र से मिलकर यह नहीं जानती है कि मैं अमुक नदी हूँ और मैं अमुक नदी हूँ । इसी प्रकार यह सब प्रजा भी सत् से उत्पन्न होकर यह नहीं जानती कि हम सत् से आये है । वे यहाँ व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, वराह, कीट, पतङ्ग डाँस व मच्छर जो–जो होते हैं वैसे ही फिर हो जाते है । यही अणुरूप वाली (आत्मावाला) जगत् है और हे श्वेतकेतु ! तू भी वही है । श्वेतकेतु ने कहा–भगवन् ! मुझे फिर समझाओ । पिता ने कहा –अच्छा !

हे सौम्य ! इस बड़े वृक्ष की जड़ में यदि कोई चोट मारे तो वह सुख नहीं जाता, जीवित रहकर रस निकलता रहता है । उसी प्रकार कोई मध्य में चोट मारे तब भी वह जीवित रहकर रस टपकता है । यदि कोई उपर के भाग में चोट मारे तो भी वह जीवित रहकर रसस्राव करता है । यह तब भी जीव रूप आत्मा से व्याप्त जल पीता हुआ आनन्द में स्थित रहता है । जब इस वृक्ष की किसी शाखा का जीव निकल जाता है, तो वह सुख जाती है । यदि दूसरी शाखा का जीव निकल जाता है, तो वह सूख जाती है । यदि तीसरी का निकल जाता है, तो वह सूख जाती है । यदि समस्त वृक्ष का जीव निकल जाता है तो वह सम्पूर्ण वृक्ष सूख जाता है । जीव रहित होकर शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता । उसी प्रकार सूक्ष्म भाव वाला–आत्मा

वाला, यह जगत् है, यह सत्य है और हे श्वेतकेतु ! वैसे ही तू भी सत्य है । श्वेतकेतु ने कहा – 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये । पिता ने कहा अच्छा ।

हे श्वेतकेतु ! इस वट वृक्ष का फल ले आ ।

–'भगवन् ! ले आया ।

–' इसे तोड़ डालो ।'

–'तोड़ डाला

–इसमें क्या देखते हो ?

–'भगवन् बहुत सूक्ष्म बीज दिखाई देते हैं।'

–'इन बीजों में से एक को लेकर तोड़ डाल ।'

– 'भगवन् ! इसमें तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता ।'

पिता ने कहा – 'इस सूक्ष्म वट बीज के जिस अति सूक्ष्म भाव को तू नहीं देख सकता उसी में इतना विशाल वट वृक्ष स्थित है । हे सौम्य! श्रद्धाकर । वह जो सूक्ष्म भाव वाला आत्मा जगत् है वह सत्य है और हे श्वेतकेतु ! तू ही वैसे सत्य है । तत्त्वमसि ।

श्वेतकेतु ने कहा – 'भगवन् ! फिर समझाइये ।

पिता ने कहा– अच्छा ।

उद्दालक ने कहा– 'इस नमक के टुकड़े को जल–पात्र में डालकर कल मेरे पास आना । श्वेतकेतु ने पिता के कथानुसार किया और दूसरे दिन प्रातः उसके पास पहुँचा ।

पिता ने कहा –'हे पुत्र ! जिस नमक को तुमने रात के समय जल पात्र में डाला था उसे लाओ । उसने ढूँढने पर उसे न पाया ।

'हे पुत्र ! तू इस मिले हुए नमक को नहीं देख सकता, पर जानना चाहे तो इस जल का आचमन कर । आचमन कर लेने पर पिता ने कहा – 'कैसा है?

श्वेतकेतु ने कहा – 'खारी है'

–अब बीच का आचमन करके देख कि कैसा है ?

– 'खारी है'

–'अब नीचे का आचमन करके देख कैसा है ?

– 'खारी है'

– 'अच्छा अब जल फेंककर मेरे समीप आ ।

श्वेतकेतु ने कहा –उस जल में नमक सर्वत्र विद्यमान था ।

पिता ने कहा – 'हे सौम्य ! यद्यपि तू सत् को देख नहीं सकता पर वह यहाँ पर निश्चय ही वर्तमान है' । यह समस्त जगत् ऐसे ही सूक्ष्म भाव युक्त है । यह सत्य है और हे श्वतकेतु । वैसे ही तू भी सत्य है । तत्त्वमसि ।

श्वेतकेतु ने कहा अच्छा भगवन ! मुझे फिर समझाइये ।

हे सौम्य ! यदि किसी व्यक्ति को गान्धार देश में आँख बाँन्धकर कोई ले जाय और वैसे ही जङ्गल में छोड़ दे, तो वह वहाँ, पूर्व, उत्तर, दक्षिण, पश्चिम दिशाओं की तरफ मुँह करके चिल्लाएगा, मुझे आँख बाँधकर यहाँ लाया गया है और वैसे ही छोड़ दिया गया है । यदि उस व्यक्ति के बन्धन खोलकर दूसरा व्यक्ति उसे बोल दे कि 'गन्धार देश इस दिशा में है, तू इसी तरफ चला जा ।' वह बुद्धिमान और उपदेश पाया हुआ पुरुष गान्धार तक पहुँच जाता है । इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने आचार्य से उपदेश प्राप्त किया है वह सत् को जानता है । उसके लिए मोक्ष प्राप्ति होने में उतना ही विलम्ब है कि जब तक वह देह रूप बन्धन से छुटकारा नहीं पा जाता । बन्धन मुक्त होने पर वह अवश्य सत् (ब्रह्म) को प्राप्त हो जाता है । यह सब जगत् ऐसा ही सूक्ष्म भाव से व्यक्त सत्य है और हे श्वेतेकतु ! वैसे ही तू भी सत्य है । तत्त्वमसि ।

श्वेतकेतु ने कहा –'भगवन् ! इसे फिर समझावे । पिता ने कहा अच्छा ऐसा ही हो ।

–'हे श्वेतकेतु ! ज्वरादि से पीड़ित मरणासन्न व्यक्ति को उसके बन्धु–बान्धव घेरकर बैठ जाते हैं, और पूछते हैं कि तुम हमको पहिचानते हो ? तो जब तक वाणी मन में लीन नहीं होती, मन प्राण में, प्राण तेज में तथा तेज परदेवता में लीन नहीं हो जाता, तब तक वह पहिचानता रहता है । फिर जब उसकी वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज

में, तेज परदेवता में लीन हो जाता है तब वह मृतक पुरुष नहीं पहिचान पाता । वह सूक्ष्म भाव वाला जो समस्त जगत् है, वह सत्य है और हे श्वेतकेतु ! तू भी सत्य है ।' तत्त्वमसि ।

–'भगवन् ! मुझे फिर से समझायें ।

–'हे सौम्य ! अपराधी पुरुष के हाथ बान्धकर लाते हैं और कहते हैं कि इसने चोरी की है, इसके लिये कुल्हाड़ा तपाओ । यदि वास्तव में चोर होता है और झूँठ बोलकर अपने कृत्य को छिपाता है तो तपे हुए कुल्हाड़े को उठाने से दग्ध हो जाता है और मर जाता है । और यदि वह चोरी करने वाला नहीं होता तो वह उसी से अपने को निर्दोष सिद्ध करता है । वह अपने को सत्य से आवृत्त कर उस तप्त कुल्हाड़े को ग्रहण कर लेता है और जब उससे नहीं जलता तो उसे छोड़ दिया जाता है । जिस प्रकार वह उस परीक्षा के समय नहीं जलता वैसे ही सत् को पा जाने वाला विद्वान पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाता है । ऐसा ही रूप वाला सर्व जगत् है, वही सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! 'वही तू है !','तत्त्वमसि' । तब श्वेतकेतु जान गया, मैं सब ही हूँ ।''

नारद जी को ब्रह्मोपदेश

सप्तम अध्याय (प्रथम खण्ड)

'तरति शोकमात्माविदिति' । सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छकस्य पारं तारयत्विति ।

हे भगवन् ! मैं कर्मवेत्ता हूँ, आत्मा के सम्बन्ध में नहीं जानता । आत्मज्ञानी मन के परिताप को पार कर लेता है । मैं आत्मज्ञान के अभाव में शोक करता रहता हूँ । हे भगवन् ! मुझे उस शोक सागर से पार कीजिए ।

चतुर्विंश खण्ड

तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः ।

तब सनत्कुमार जी ने कहा– जहाँ अन्य किसी को नहीं देखता और कुछ नहीं सुनता और कुछ भी नहीं जानता, वह भूमा है । इसके विपरीत जहाँ अन्य को देखता है, अन्य को सुनता है, अन्य को जानता है, वह अल्प

है, इस प्रकार भूमा अविनाशी है और अल्प विनाशयुक्त है ।

षड़विंश खण्ड

आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है । अन्तःकरण की शुद्धि से निश्चल स्मृति प्राप्त होती है, स्मृति प्राप्त हो जाने पर सब ग्रन्थियों (अविद्या जनित भावों) का नाश हो जाता है, इस प्रकार जिनकी वासनायें क्षीण हो चुकी थी ऐसे नारद को भगवान् सनत्कुमार ने अज्ञानान्धकार से दूर कर आत्मज्ञान का दर्शन कराया ।

आठवा अध्याय

(सप्तम खण्ड से द्वादश खण्ड)

इन्द्र विरोचन की आख्यायिका

प्रजापति ने कहा कि जो आत्मा पाप रहित, वृद्धावस्था से रहित, मृत्यु से रहित, महाकष्ट से रहित, क्षुधारहित, तृषारहित सत्य भोग युक्त है वही जानने और अनुभव करने योग्य है । जो आत्मा को जान कर उसका अनुभव प्राप्त करता है वह सब लोकों और उसके भोगों को प्राप्त कर लेता है ।

प्रजापति के इस कथन को देवता और असुर दोनों परस्पर सुनते आये थे । वे कहने लेगे कि उस आत्मा को जानना चाहिये जिससे सब लोक और भोगों को प्राप्त किया जाता है । ऐसा विचार कर देवताओं से इन्द्र और असुरों से विरोचन, एक दुसरे से ईर्षाभाव रखते हुए समिधा लेकर प्रजापति के समीप आये । प्रजापति के समीप बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए निवास करते रहे । तब प्रजापति ने कहा तुमने किस उद्देश्य पूर्ति के लिये यहाँ वास किया है । वे दोनों कहने लगे – जो आत्मा पाप रहित, मृत्यु रहित, तृष्णा रहित सत्यकाम, स्वयं संकल्प है वही जानने योग्य है, और अनुभव करने योग्य है, जो उस आत्मा को जानता है, अनुभव करता है वह सब लोकों और सब भोगों को पाता है, ऐसे आपके कथन को सब शिष्टजन बतलाते हैं । हमें उस आत्मा को जानना है और अनुभव

करना है ।

उन दोनों से प्रजापति कहने लगे – 'आँख के भीतर तो यह पुरुष रूप दिखायी देता है, वह आत्मा है, यह अमृत, अभय और ब्रह्म रूप हैं, वे प्रतिबिम्ब को ही आत्मा समझकर पूछने लगे – 'भगवान् ! यह जो जल में और दर्पण में चारों ओर से दिखाई पड़ता है, उसमें आत्मा कौन से है ?' प्रजापति ने कहा– 'मैंने नेत्रों के भीतर जो द्रष्टा बतलाया वही इन सबमें भी जान पड़ता है ।

जल से भरे पात्र में अपने को देखो और फिर आत्मा के विषय में तुम जो न जान सके हो, वह मुझे बतलाना । प्रजापति के यह कथन सुनकर उन दोनों ने जल के पात्र में देखा । तप प्रजापति ने कहा क्या देख रहे हो ? दोनों ने उत्तर दिया – हे भगवन ! शरीर के रोम रोम और नख पर्यन्त प्रतिविम्ब रूप यह आत्मा हम को दिखाई पड़ रही है । प्रजापति ने उन से कहा तुम सुन्दर अलंकार, वस्त्र धारण करके, तथा समस्त देह को खुब् परिस्कृत करके फिर जल के भीतर देखो । वे तदनुसार अलंकार तथा वस्त्र धारण करके तथा परिष्कृत होकर जलपात्र में देखने लगे । प्रजापति ने पुछा – क्या देख रहे हो ? उन्होंने कहा भगवन् ! जिस प्रकार हम सुन्दर अलंकार और वस्त्र से युक्त परिष्कृत है, उसी प्रकार ये दोनों भी सुन्दर अलंकार और वस्त्र वाले तथा परिष्कृत है । प्रजापति ने कहा – यही आत्मा है जो अविनाशी, अभय और ब्रह्म है । प्रजापति के बचन सुनकर वे सन्तुष्ट होकर चलेगये । प्रजापति ने उनको दूर जाते हुए देखकर कहा – आत्मा को नहीं जानकर, उसका अपरोक्ष अनुभव किये बिना जो ये जा रहे हैं, ये देवता हों चाहे असुर, जो ऐसे विचार वाले होंगे उनका पराभव होगा । विरोचन ने तो असुरों के पास पहुँचकर सन्तुष्ट भाव से बतलाया – आत्मा (शरीर) ही इस लोक में पूजने योग्य, सेवा करने योग्य है । जो इस आत्मा को पूजेगा, सेवा करेगा, वह इस लोक और परलोक दोनों को प्राप्त करेगा । यह असुर स्वभाव वाला है, यह लक्षण असुरों के ही है । इसी से वे मृतक शरीर को भोजन, वस्त्र, अलंकार आदि से सज्ञित करते हैं और समझते हैं कि हम

इसी के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करेंगे ।

पर इन्द्र जब तक देवताओं के पास नहीं पहुँचा तभी मार्ग में उसे इसमें भय जान पड़ा कि–जैसे अलंकार पहिनने से शरीर का प्रतिविम्ब भी अच्छे अलंकार युक्त दिखायी पड़ता है, सुन्दर वस्त्र धारण से वह सुन्दर वस्त्रयुक्त होता है, परष्कृित होने से वह भी परिष्कृत दिखाई पड़ता है । इसी प्रकार शरीर अन्धा होगा तो उसकी प्रतिविम्ब रूप आत्मा अन्धा होगा, अगर यह स्राम होगा तो वह भी स्राम होगा । अगर यह लुला होगा तो वह भी लुला होगा यदि शरीर नष्ट हो जायेगा तो इसकी प्रतिविम्ब रूप आत्मा भी नष्ट हो जायेगी । इसमें तो मुझे कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता । तब वह इन्द्र पुनः समिधा हाथ में लेकर प्रजापति के समीप उपस्थित हुआ ।

प्रजापति ने कहा – हे इन्द्र ! तुम सन्तुष्ट होकर विरोचन के साथ चलेगये थे अब किस इच्छा से फिर आये हो ? इन्द्र ने कहा हे भगवन् ! जिस प्रकार इस शरीर को अलंकृत करने से इसका प्रतिविम्ब रूप आत्मा भी अलंकृत दिखायी पड़ता है, सुन्दर वस्त्र पहिने से वह भी सुन्दर वस्त्रयुक्त हो जाता है, वैसे ही अगर यह अन्धा हो जाय तो प्रतिविम्ब रूप आत्मा भी अन्धा ही होगा,अगर वह स्राम, लुला होगा तो वह भी स्राम, लुला होगा, जब शरीर वा नाश हो जायगा तो वह भी नष्ट हो जायेगा । इससे मैं इस प्रतिविम्ब रूप आत्मा के विचार में कोई लाभ नहीं देखता । प्रजापति ने कहा – हे इन्द्र ! तुम्हारा विचार ठिक् है । मैं पुनः बताउँगा । अब तुम पुनः बत्तिस वर्ष तक यहाँ निवास करो । तब इन्द्र बत्तिस वर्षतक वहाँ रहा और तब भगवान प्रजापति उससे कहने लगे – यह जो स्वप्न में पूज्यमान होता, विचरता है, वह आत्मा है। वह अविनाशी, अभय और ब्रह्म है । इन वचनों को सुनकर इन्द्र सन्तुष्ट होकर चलागया । पर देवताओं के पास पहुँचने से पहले ही इस विचार में यह दोष समझनें लगा – यद्यपि इस शरीर के अन्धा होने पर स्पन्न का शरीर अन्धा नहीं होता, इसके स्राम होने पर स्वप्न शरीर स्राम नहीं होता । इस शरीर के मर जाने पर स्वप्नात्मा नहीं मारा जाता पर स्वप्न में ऐसा जान पड़ता है कि कोई इसे मार रहा है, खदेड़ रहा है, अप्रिय प्रसङ्ग से दुःखी हो रहा है । इसलिये स्वप्नात्मा में कोई फल नहीं जान पड़ता है ।

तब वह पुनः हाथ में समिधा लेकर प्रजापति के समीप आया । प्रजापति ने कहा – इन्द्र ! तुम तो सन्तुष्ट होकर चलेगये थे ? किस इच्छा से पुनः आये हो ? इन्द्र ने कहा– यद्यपि इस शरीर के अन्धा, स्राम होने पर स्वप्न में यह अन्धा, स्राम नहीं हो जाता, इससे कोई दोष होजाये स्वप्नात्मा में यह नहीं जान पड़ता है, इस शरीर को मार डाला जाय तो स्वप्नात्मा मारा नहीं जाता । परन्तु स्वप्न में भी ऐसा प्रतीत होता है कि कोई स्वप्नात्मा को मार रहा है, खदेड़ रहा है, शोक करा रहा है, रो रहा है, मुझे स्वप्नात्मा में कोई फल दिखाई नहीं पड़ता है । इन्द्र के बात सुनकर प्रजापति कहने लगे – हे इन्द्र ! यह बात ठीक है । अब मैं तुमको फिर से आत्मा का मर्म समझाऊँगा । तुम पुनः बत्तिस वर्ष यहाँ रहकर तपस्चर्या करो । फिर बत्तिस वर्ष के बाद प्रजापति ने कहा – जब वह सोया हुआ सब तरह से शान्त हो और स्वप्नादि को भी अनुभव नहीं करता है वह आत्मा है । वही अमृत है, अभय है और ब्रह्म है। प्रजापति के इस कथन को सुनकर इन्द्र सन्तुष्ट होकर चला गया । पर देवों के पास पहुँचने के पूर्व ही वह विचार करने लगा – सुषुप्ति अवस्था में तो आत्मा आपने को भी नहीं जानता है कि यह मैं हूँ, अन्य पदार्थ को भी नहीं जानता और ऐसा हो जाता है मानो इसका नाश हो गया हो । इस सुषुप्ति अवस्था में मुझे कोई फल नहीं दिखाई पड़ता ।

वह पुनः हाथ में समिधा लेकर प्रजापति के समीप पहुँचा । प्रजापति ने कहा – हे इन्द्र ! अब किस इच्छा से पुनः आये हो ? तब इन्द्र ने कहा – भगवन् ! इस सुषुप्ति अवस्था में आत्मा को यह भी ज्ञान नहीं रहता है कि मैं हूँ । वह अपने को नहीं जान पाता है और अन्य पदार्थों को जान सकता है । इसमें मुझे कोई फल नहीं जान पड़ता है । प्रजापति ने कहा है इन्द्र ! ऐसा ही है । अब मैं तुम्हें पुनः समझाऊँगा कि आत्मा भिन्न नहीं है । तुम पाँच वर्ष तक यहाँ निवास करो । जब पाँच वर्ष पुरे होगये, एक सौ एक वर्ष पूर्ण हुए, तब प्रजापति ने उसको बतलाया कि–

हे इन्द्र ! यह शरीर मरण धर्म वाला और सदैव मृत्यु से घिरा हुआ है । अविनाशी और अशरीर आत्मा इसमें निवास करता है। शरीर युक्त रहने पर यह सुख–दुःख से घिरा रहता है, शरीर रहते हुए इसमें प्रिय–

अप्रिय का अन्त नहीं हो सकता । पर जब यह अशरीर हो जाता (देहाभिमान को त्याग देता) है, तो प्रिय–अप्रिय इसे स्पर्श नहीं कर सकते । यह जीव शरीर से उड़कर परम ज्योति ब्रह्म को पाकर अपने स्वरूप को पा जाता है । यह उत्तम पुरुष होता है । यह जीव उस अवस्था में सर्वत्र गमन करता हुआ हँसता, स्त्रियों, सवारियों, जाति बन्धुओं के साथ क्रीड़ा करता हुआ रमण करता है, इस शरीर को स्मरण भी नहीं करता । अब जहाँ आकाश रूप में अनुवेश पाया हुआ चक्षु है, वह चाक्षुष पुरुष है । उसके ज्ञान के साधन नेत्र हैं । जो यह समझता है कि मैं सूँघूँ उसके गन्ध–ज्ञान का साधन नासिका है । अब जो यह विचारता है कि मैं उच्चारण करूँ' उसके वाक्य उच्चारण के लिये वाणी है । जो चाहता है कि मैं श्रवण करुँ । उसके सुनने के साधन स्वरूप कर्णेन्द्रिय है । अब जो यह विचारता है कि 'मैं मनन करूँ', यही आत्मा है, उसके लिए मन रूपी दिव्य नेत्र हैं ।

उस आत्मा की देवगण उपासना करते हैं । इसलिए उसे सब लोक और सब भोग प्राप्त हो जाते है । जो पुरुष उस आत्मा को जानकर अनुभव करता है, वह सब लोकों को, और भोगों को पाता है, ऐसा प्रजापति ने कहा है ।

श्वेदाश्वतर उपनिषत्

प्रथम अध्याय

ज्ञात्वा देवं सर्पपाशापहानिः ।११।।

उस परमदेव को जानने पर सर्व बन्धन कट जाते हैं । अपने अन्तर में निवास करने वाले ब्रह्म का ही ज्ञान करना चाहिए, इससे ज्ञातव्य कुछ नहीं है ।

तृतीय अध्याय

वेदाहमेतं पुरुष महान्त
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।८।।

सब देहधारियों में उनके अनुरूप होकर निवास करने वाले, उन महान् एक ही देव परमेश्वर को जानने वाले अमृतत्व को प्राप्त होते हैं । अविद्या से परे सूर्य के समान तेजस्वी महान् पुरुष का मैं 'मैं रूप' से ज्ञाता हूँ । जो उसे जानता है वह मृत्यु भय से पार हो जाता है । इससे भिन्न कोई मार्ग भव–बन्धन से मुक्त होने का नहीं है ।

सर्वाननशिराग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तसस्मात् सर्वगतः शिवः ।।११।।

परमात्मा का मुख, शिर और कंठ सब ओर है और सर्वव्यापी, सब प्राणियों के हृदय में स्थित रहता है, इसलिए वह सर्वगत एवं कल्याणकारी है ।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महानन्तम् ।१६

वह निर्गुण निराकार शक्ति स्वरूप परमेश्वर सब शरीरों में हाथ–पैर, आँख, सिर, मुख और कानों वाला है । अर्थात् उसकी शक्ति से सब इन्द्रियाँ अपना काम करती है । वही संसार में सबको सब ओर से आवृत करता हुआ स्थित है । बिना हाथ पैर के होते हुए भी वह परमेश्वर सब कुछ करता है, सब ओर चलता है । बिना आँख, कान के होते हुए भी सबको देखता एवं सुनता रहता है। वह सभी ज्ञातव्य विषय को जानता है। सभी को वह जानता रहता है, पर उसे कोई जीव इन प्राकृत विकारी नेत्रों से कभी नहीं देख सकेगा । ज्ञानीजन इसलिए उसे महान् बतलाते हैं ।

चतुर्थ अध्याय

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य
नश्नन्न्यो अभिचाकशीति ।।६ ।।

सदैव साथ रहने वाले मित्र भाव से युक्त दो, पक्षी रूप जीव आत्मा और परमात्मा एक ही देह वृक्ष पर निवास करते हैं । उनमें से एक जीव रूपी पक्षी तो वृक्ष देह में बैठा हुआ अपने कर्मों वृक्ष के फलों का स्वाद लेता है और दूसरा पक्षी साक्षी परमात्मा उन फलों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है ।

पंचम अध्याय

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ।।१०।।

यह चेतन आत्मा न पुरुष है न स्त्री है और न यह नपुंसक है । यह जीवात्मा जिस प्रकार के शरीर को प्राप्त करता है, उसी–उसी से युक्त हो जाता है ।

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैंक परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।१३।।

संसार में व्याप्त, आदि-अन्त से रहित, विश्व के रचयिता, विधरूपधारी, संसार को सब ओर से परिवेष्टित किये हुए परमेश्वर को मैं रूप से जानने वाला मनुष्य सब पाशों से छूट जाता है ।

षष्ठ अध्याय

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़
सर्वव्यापि सर्वभूतान्तरात्मा
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।११ ।।

एक परमेश्वर ही सब जीवों में स्थित एवं सर्वव्यापी है, वह सब भूतों के अन्तर में निवास करने वाला अन्तर्यामी ब्रह्म है । वह सबके कर्मों का नियामक, सब प्राणियों का आश्रयभूत, सब का साक्षी चेतन स्वरूप, पवित्र और निर्गुण है । उस हृदय में निवास करने वाले ब्रह्म का जो ज्ञानी मैं रूप से निरन्तर दर्शन करते हैं, उन्हें शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्योगधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।१३।।

जो चैतन्य स्वरूप, नित्य, एकाकी परमेश्वर है वह ही असंख्य जीवात्माओं को चैतन्य और जीव आत्मा को कर्मफल की व्यवस्था करता है, उस ज्ञान-कर्म द्वारा प्रारब्ध परमेश्वर का ज्ञाता समस्त पापों से छूट जाता है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विंभाति ।।१४।।

उसके परमधाम में सूर्य, चन्द्र, तारागण और विद्युत कोई भी प्रकाश नहीं फैला सकता, तो वहाँ अग्नि अपना प्रकाश कर ही कैसे सकता है ? अपितु सूर्य आदि सभी उसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और यह सम्पूर्ण लोक भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं ।

एको हँसो भुवनस्यास्य मध्ये
स एवाग्निः सलिले सन्निदिष्टः ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।१५।।

इस लोक के मध्य में एक प्रकाश रूप परमेश्वर ही प्रतिष्ठित है । जल में निहित अग्नि भी वही है । उसका ज्ञाता मृत्यु से तर जाता है । उसकी प्राप्ति के लिये उसे जानने के सिवाय अन्य पन्थ नहीं है ।।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा दैवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।२०

जब मनुष्यों को इतना सामर्थ्य हो जायेगा कि आकाश को चर्म के समान लपेट लेंगे, तब उस परमेश्वर को जाने बिना भी दुःखों का नाश हो सकेगा ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।२३।।

गीता १८/६७ में कहा गया है – अशान्त मन वाले व्यक्ति को इसे नहीं बताना चाहिये, जो अपना पुत्र अथवा अपना शिष्य न हो उसे भी यह ज्ञान न दें । परमेश्वर में जिसकी अत्यन्त भक्ति है तथा गुरु में उसी प्रकार भक्ति है, ऐसे महान आत्मा (पुरुष) के अन्तःकरण में ही यह कहे हुए रहस्य जाग्रत रहते हैं, उसी महात्मा का हृदय उन रहस्यों से प्रकाशित रहता है ।

गर्भोपनिषत्

पुरुष–शुक्र और स्त्री–रज के संयोग से गर्भ बनता है ।

ऋतु समय उचित प्रकार गर्भाधान होने पर शुक्र और शोणित के योग से एकरात्रि में कलल और सात रात्रियों में बुद्बुद् बनता है । एक पखवारे में पिण्ड बनता है जो एक मास में कठिन होता है । दो मास में सिर और तीन मास में पाँव बनते हैं । चौथे मास में टखने, पेट और कमर बनते हैं, पाँचवें मास में पृष्ठ, रीढ़ और छठे मांस में मुख, नाक, कान, नेत्र आदि बनते हैं । सातवें मास में जीवयुक्त होकर आठवें मास में परिपूर्ण होता है । शुक्र की अधिकता से पुत्र की उत्पत्ति होती है और रज की अधिकता से पुत्री उत्पन्न होती है । शुक्र –रज के सम मात्रा में होने से नपुंसक सन्तान का जन्म होता है । मन में व्याकुलता हो तो उस स्थिति का संयोग होने से सन्तान के बौनी, कुबड़ी, अन्धी आदि होने का कारण बनता है । जब वायु के सामर्थ्य से शुक्र दो भागों में वितरित होता है तब युग्म सन्तति उत्पन्न होती है । फिर नवम मास में वह ज्ञानेन्द्रिय आदि से युक्त होकर पूर्ण हो जाता है । उस समय वह पूर्व जन्म की याद करता है, तब उसके शुभ और अशुभ कर्म उसके समक्ष प्रकट हो जाते है ।३।

उस समय गर्भ में प्राणी सोचता है कि मैंने अपने हजारों पहले जन्मों को देखा और उनमें विभिन्न प्रकार के भोजन किये तथा विभिन्न योनियों में स्तन पान किये । अनेक बार जन्मा और मृत्यु को प्राप्त हुआ । उन जन्मों में अपने परिवार के हित में जो–जो शुभ और अशुभ कर्म किये उनको सोच–सोच कर आज मैं अकेला ही जल रहा हूँ । उन भोगों को भोगने वाले

तो न मालूम कहाँ गये । परन्तु मैं यहाँ दुःखरूप समुद्र में पड़ा हूँ, उससे निकलने का कोई उपाय मुझे नहीं सूझता । जब मैं इस गर्भ से बाहर निकल जाऊँगा तब बुरे कर्मों के असहनीय कष्ट नाशक और मुक्तिरूप फल देने वाले महेश्वर की शरण ग्रहण करूँगा । जब मैं इस योनि से मुक्त हो जाऊँगा तब नारायण का आश्रय लूँगा अथवा इस गर्भयोनि से छूटने पर मुक्तिरूप फलदाता सांख्य योग अर्थात् आत्मज्ञान का साधन करूँगा । यदि मैं कर्मयोनि से निकल सका तो ब्रह्म के चिन्तन में मन लगाऊँगा । इस प्रकार से विचार करता हुआ वह प्राणी बड़े कष्ट से जन्म ले पाता है, परन्तु जन्म लेने पर वह माया का स्पर्श होते ही पूर्व जन्म और मृत्यु के कष्ट को भूल जाता है । उसे अपने गर्भमान का भी ध्यान नहीं रहता और उसके द्वारा किये हुए शुभ–अशुभ कर्म भी लुप्त हो जाते हैं ।४।

स्त्री योनि द्वार से गर्भस्थ शिशु का बाहर आना वैसा ही महान कष्टप्रद होता है, जैसे नासिका के छिद्र से नारियल को बाहर निकालना असहनीय दुःख रूप होगा ।

कर्मण्ये बाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

यह जीव कर्म करने के लिये स्वतन्त्र है कि यह शुभाशुभ काम मैं करुँगा तो इसका फल मुझे ही भोगना होगा । यदि हत्या, चोरी, गर्भपात, अशुद्ध आहार कर लिया तो फिर फल भोगने से यह बच नहीं सकेगा । अतः प्रत्येक मानव को कर्म करने से पहले अच्छी तरह सोच लेना चाहिये । अन्यथा – **'जो जस करइ सो तस फल चाखा**
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता ।' रामायण

यः स्तनः पूर्व पीतस्तं निष्पीड्यं मुदमश्नुते ।
यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् ।।१३१।। योगतत्त्व उप.

यह जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ मनुष्य योनि में प्रवेश करता है । जन्म के समय यह जीव एक शरीर को मां रूप स्वीकार कर स्तन का पान करता है और फिर यह जीव यूवावस्था में दूसरे शरीर के स्तन को दबाकर मर्दन करता है व पुनः चूसन क्रिया कर

प्रसन्नता का अनुभव करता है । अर्थात् यह मनुष्य पत्नी से मैथुन सम्बन्ध कर उसी के गर्भ में वीर्य रूप से स्थित होकर पुत्र रूप में पैदा होता है और उसे मां बनाकर स्तनपान करता है । यह स्त्री जिसे अपना पति कहती है उसे पुत्र रूप में पैदा कर अपने स्तन का पान कराती है । यह जीव एक शरीर योनि से जन्म ग्रहण करता है और फिर यही जीव युवावस्था में दूसरे शरीर के योनि द्वार में अपना लिंग डाल कर आनन्द का अनुभव करता है ।

या माता सा पुनः भार्या या भार्या मातरेव हि । १३२
यः पिता स पुन : पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ।
एवं संसार चक्रेण कूप चक्र घटा इव ।। १३३।। योगतत्त्व उप.

एक जन्म में जो माता होती है अन्य जन्म में वह पत्नी बन जाती है । ऐसा राजा जनक ने योग सिद्धि द्वारा अपनी पत्नी को पूर्व जन्म की माँ रूप में देखा था । और जो भार्या होती है वह आने वाले जन्म में माता बन जाती है ।

जो पिता होता है वह पुत्र बन जाता है और पुत्र पिता बन जाता है । इस प्रकार यह संसार चक्र अर्थात् कूपचक्र (पानी खींचने वाले रहट माल) की तरह है । जिसमें प्राणी विभिन्न योनियों में आवागमन करता रहता है ।

मुद्गलोपनिषत्

चतुर्थ खण्ड

तत्ब्रह्म तापत्रयातीतं षट्कोशविर्निमुक्तं षड्र्मिवर्जितं पञ्चकोशातीतं षड् भावविकारशून्यमेवमादिसर्वविलक्षणं भवति ।१। तापत्रयं त्वाध्यात्मिकाधिभौतिकधिदैविकं कर्तृकर्मकार्य ज्ञातृज्ञानश्रेयभोक्तृ-भोगभोग्यमिति त्रिविधम् ।२। त्वङ्मांसशोणितास्थिस्नायुमज्ञाः षटकोशः ।३। कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यमित्यारिषड्वर्गः ।४। अन्नमय-प्राणमयमनोमयविज्ञानमया इति पंचकोशाः ।५। प्रियत्वजननबर्धन-परिणामक्षयनाशाः षडभावाः ।७। अशनायपिपासाशोकमोहजरा-मरणानीति षड्र्मयः ।७। कुलगोत्रजातिवर्णश्रमरुपाणी षड्भ्रमाः ।८। एतद्योगेन परमपुरषो जीवो भवति नान्यः ।९।

ब्रह्म सब प्रकार विलक्षण है । वह त्रय-ताप, रहित छः कोषों से रहित, छः उर्मियों से वर्जित, छः विकारों से शून्य तथा पाँच कोषों से परे है । आध्यात्मिक, भौतिक, आधिदैविक यह त्रिताप है । चर्म, मँास रक्त, अस्थि, नाड़ी और मज्ञा यह कोश कहे गये हैं । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर यह छः शत्रु हैं । प्राणमय, मनोमय, अन्नमय, आनन्दमय और विज्ञानमय ये पाँच कोष हैं । प्रियत्व, प्रकटत्व, बुद्धि, परिवर्तन, विनाश एवं घटना ये भाव विकार हैं । क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु यह ऊर्मियाँ हैं । जाति, वर्ण, आश्रम, कुल, गोत्र, रूप यह भ्रम है । इन सभी के योग से परमपुरष प्राणी होता है ।

अध्यात्म उपनिषत्

जिसका शरीर पृथ्वी है, वह पृथ्वी के भीतर रहता है, पर पृथ्वी उसे जानती नहीं । जल जिसका शरीर है जल के अन्दर जो रहता है पर जल जिसे जानता नहीं । तेज जिसका शरीर है और जो तेज के भीतर रहता है, तो भी तेज जिसको जानता नहीं । जो वायु के भीतर रहता है और वायु जिसका शरीर है, पर वायु उसे जानता नहीं । आकाश जिसका शरीर है और जो आकाश के भीतर रहता है पर आकाश जिसे जानता नहीं । मन जिसका शरीर है और जो मन के भीतर रहता है तो भी मन जिसको जानता नहीं । बुद्धि जिसका शरीर है और बुद्धि के भीतर जो रहता है तो भी बुद्धि जिसको जानती नहीं । अहंकार जिसका शरीर है जो अहंकार के भीतर रहता है, तो भी अहंकार जिसको जानता नहीं । चित्त जिसका शरीर है और चित्त के भीतर जो रहता है तो भी चित्त जिसको जानता नहीं । अव्यक्त जिसका शरीर है और अव्यक्त के भीतर जो रहता है, तो भी अव्यक्त जिसको जानता नहीं । अक्षर जिसका शरीर है और अक्षर के भीतर जो रहता है, तो भी अक्षर जिसको जानता नहीं । मृत्यु जिसका शरीर है और मृत्यु के अन्दर जो रहता है, तो भी मृत्यु जिसे जानती नहीं । वही इन सर्वभूतों का अन्तरात्मा है । ऐसा जानने वाला, उस आत्मदर्शी के समस्त पाप नष्ट हो गये हैं और वही एक दिव्य देव नारायण है । देह, इन्द्रियाँ आदि अनात्म पदार्थ हैं, इनके ऊपर 'मैं–मेरा' ऐसा जो भाव होता है, वह अध्यास (भ्रम) है । इसलिए विद्वान् को ब्रह्मनिष्ठा द्वारा इस अध्यास को दूर करना चाहिए ।१।

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः ।
त्यक्त्वा चण्डालवद्दूरं ब्रह्मीभूय कृती भव ।।६।।

यह शरीर तो माता-पिता के रज-वीर्य रूप मैल से उत्पन्न हुआ है और मल तथा माँस से भरा है, इसलिए जिज्ञासु को चाहिये कि वह उसे चाण्डाल की तरह त्यागकर ब्रह्मरूप होकर तू कृतार्थ होवे ।६।

घटाकाशं महाकाश मिवात्मानं महाकाशे परात्मनि ।
विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने ।।७।।

हे मुनि ! महाकाश में घटाकाश की तरह परमात्मा से आत्मा को एक रूप करके अखण्ड भाव से सदा शान्त रहो ।

यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तःपुरं यथा ।
तद्ब्रह्ममिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भावानघ ।।१०।।

दर्पण में जैसे शहर दिखायी देता है, वैसे ही जिस आत्मा में यह जगत् का आभास दिखायी पड़ता है, 'वही ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार जानकर तू कृतार्थ हो जा ।10।

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यं कदाचन ।
प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः ।१४

ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि यही मृत्यु हैं । ऐसा ब्रह्मचारी कहते हैं ।

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहाऽपि स केवलः ।
समाधिनिष्ठतामैत्य निर्विकल्पो भावनघ ।।१६।।

जिसको जीवितावस्था में ही सद्गुरु कृपा द्वारा ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त हो गयी है, वह देहाभिमान से रहित होने से ब्रह्मरूप ही है ।

जो मुमुक्षु-जीवात्मा तथा ब्रह्म में भेद नहीं देखता है और ब्रह्म तथा सृष्टि का भेद भी जिसकी बुद्धि में नहीं है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । सज्ञनों द्वारा सम्मानित होने पर और दुर्जनों द्वारा पीड़ित किये जाने पर जिसका समभाव रहता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जिसने ब्रह्मतत्त्व को

जान लिया होता है, उसकी दृष्टि में संसार प्रथम जैसा नहीं रहता है । यदि वह संसार को पूर्ववत् ही देखता है तो मानना पड़ेगा कि उसने अभी तक ब्रह्म भाव को जाना ही नहीं है और वह बहिर्मुख है । क्योंकि प्रत्येक फल का उदय क्रिया पूर्वक ही होता है, क्रिया बिना किसी स्थान पर कोई फल होता ही नहीं । जिस प्रकार जागृत हो जाने से स्वप्न की क्रिया नाश को प्राप्त होती है, वैसे ही **मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा ज्ञान होने से करोड़ों और अरबों जन्म से इकट्‌ठा किया हुआ संचित् कर्म नाश को प्राप्त होता है ।**(४६–५०।)

जिस प्रकार मदिरा से भरे घड़े में स्थित आकाश, मदिरा की गन्ध से लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा का देह उपाधि का संयोग होने पर भी उसके धर्मों से लिप्त नहीं होता । इस प्रकार जीव द्वारा किये हुए कर्म का फल तो ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी जीव को भोगना ही पड़ता है । परन्तु आत्मा उन कर्मों में लिप्त नहीं होता, जैसे सूर्य पृथ्वीवासी जीवों के कर्मों का प्रकाशक तो होता है, किन्तु वह उन कर्मों से लिपायमान नहीं होता ।

ज्ञान द्वारा कर्म का नाश नहीं हो सकता । बाघ समझकर छोड़ा हुआ बाण छूटने के बाद, यह बाघ नहीं है बरन् गाय है, ऐसी बुद्धि होने पर भी वह वाण रुक नहीं सकता । इसी प्रकार किया हुआ कर्म ज्ञान हो जाने के बाद भी लक्ष्य प्राप्त करता है । 'मैं अजर हूँ' 'मैं अमर हूँ' इस प्रकार जो अपने को आत्मा रूप स्वीकार करता है, तो वह आत्मरूप ही रहता है । अर्थात् ज्ञानी को प्रारब्ध का सम्बन्ध नहीं रहता है ।(५१–५५)

प्रारब्ध कर्म तो उसी समय सिद्ध होता है, जब देह के प्रति आत्मबुद्धि होती है, पर देह के ऊपर आत्मभाव रखना तो कभी इष्ट नहीं है । इसलिए देह के ऊपर की आत्मबुद्धि को तजकर प्रारब्ध कर्म का त्याग करना है। देह की भ्रांति, यही प्राणी के प्रारब्ध कर्म की कल्पना है, पर आरोपित अथवा भ्रान्ति से जो कल्पित हुआ है, वह सच्चा कहाँ से हो ? जो सच्चा नहीं है उसका जन्म कहाँ से हो ? जिसका जन्म नहीं हुआ उसका काम कहाँ से हो ? इस प्रकार जो असत् है, वस्तु रूप है ही नहीं, उसको प्रारब्ध कर्म कहाँ से हो ?(५७–५८)

अखण्ड आनन्द रूप अमृत से भरे उस ब्रह्मरूप महासागर को प्राप्त करके अब मुझे न कुछ त्याग करना है न कुछ ग्रहण करना शेष है ? मुझे अखण्ड, अद्वय, असंग आत्मा के अतिरिक्त कुछ अन्य न होने से यहाँ मैं कुछ देखता भी नहीं और कुछ-सुनता भी नहीं और कुछ जानता नहीं, क्योंकि मैं सदा आनन्द रूप अपने आत्मरूप मैं ही हूँ और मैं स्वयं ही अपने लक्षण वाला हूँ । मैं असंग हूँ, शरीर रहित हूँ, बिना चिह्न वाला हूँ - मैं श्री हरि हूँ, अत्यन्त शान्त हूँ - मैं अनन्त हूँ, परिपूर्ण हूँ, और प्राचीन से प्राचीन हूँ । मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मैं भोक्ता नहीं हूँ - मैं विकार रहित और अविनाशी हूँ- वैसे ही मैं शुद्ध और ज्ञान स्वरूप हूँ, मैं ही केवल सदाशिव हूँ । (६८-७०)

मैत्रायण उपनिषत्

द्वितीय प्रपाठक

यह भीतर रहने वाला पुरुष वैश्वानर अग्नि पुरुष है, इससे ही अन्न पचता है । जो खाया जाता है उसी का शब्द भीतर सुनायी देता है । कान बन्द करने पर जो आवाज सुनायी देती है, वह यही आवाज होती है । जिसे अन्तर नाद भी कहते हैं ।८।

तृतीय प्रपाठक

भूतों का जो समुदाय है वही शरीर है । इसलिए इस शरीर को भूतात्मा कहा जाता है । इसमें रहने वाली जीवात्मा तो कमल पत्र पर रहने वाली पानी की बूँदों के समान है । पर अपनी प्रकृति के गुणों द्वारा पराभव पाकर वह मूढ़ बन गया है और इसलिए अपने भीतर रहने वाले प्रेरक परमात्मा को वह देख नहीं सकता । लोलुप विषयों की इच्छा वाला अहंकारी बन, जाता है और यह कहने लगता है कि यह मैं हूँ, यह मेरा है । ऐसा मानकर ही पक्षी की तरह जाल में फँस जाता है, वह अपने किये हुए कर्मों के फल में स्वयं ही फँस कर जहाँ–तहाँ घूमता फिरता है । (१–२।)

जैसे लोहे को अग्नि में तपाकर उसे लुहार अनेक रूपों में बना देता है इसी प्रकार वह भूतात्मा शुद्ध आत्मा द्वारा तपाकर और गुणों द्वारा पीटा जाकर अनेक प्रकार का बन जाता है अर्थात् तीन गुण संयुक्त चौरासी लाख योनियों में घूमता रहता है । यही अनेकत्व का स्वरूप है । जिस प्रकार चक्र को चलाने वाला कुम्हार चक्र से भिन्न रहता है, वैसे ही इन तीनों गुणों

को प्रेरणा देने वाला पुरुष अर्थात् आत्मा इन गुणों से भिन्न हैं । जैसे लोहे के गोले को पीटने से उसमें बसने वाली अग्नि को नहीं पीटा जा सकता है, वैसे ही देह, इन्द्रिय, प्राण व मनादि के कष्ट से स्वयं प्रकाश शुद्ध आत्मा को कुछ विकार नहीं होता है, परन्तु भूतात्मा के संसर्ग का दोष जीवात्मा ही को लगता है । फिर अन्य स्थान में यह भी कहा गया है कि स्त्री–पुरुष संयोग से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह चेतना रहित और मानों नरक ही है । मूत्र के द्वार में से निकलने वाला यह शरीर हड्डियों से गठित किया गया है । मांस से लिपा हुआ है, चमड़े से मढ़ा है, मल–मूत्र पित्त, कफ आदि से भरपूर है, इसके सिवाय अन्य बहुत तरह के मलों से भी युक्त है । वह मानों सब खराब वस्तुओं का खजाना हो, ऐसा लगता है ।४। **'अति अधम शरीरा** ।' (रामायण)
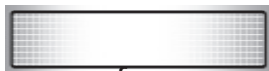
चतुर्थ प्रपाठक

समुद्र का किनारा जिस प्रकार लहरों के अन्त के लिये जरूरी है, उसी प्रकार भूतात्मा के लिए मृत्यु भी जरूरी है ।

यथा निरिन्धनो वाहिनः स्वयमेवोपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चितं स्वयोनावुपशाम्यते ।।१।।

जिस प्रकार लकड़ी के समाप्त हो जाने पर अग्नि स्वयं ही अपने स्थान में बुझ जाती है, उसी प्रकार वृत्तियों का नाश होने पर चित्त स्वयमेव ही अपने उत्पत्ति स्थान में शान्त हो जाता है ।

चित्तमेव हि संसारस्तत् प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम् ।।३।।

चित्त ही संसार है, इसलिए प्रयत्न करके चित्त को शुद्ध बनाना चाहिए, जैसा चित्त होता है वैसी ही गति प्राप्ति होती है, यह सनातन रहस्य है ।

समासक्त यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येव ब्रह्मणि स्यात्तत् को न मुच्यते बन्धनात् ।।५।।

मनुष्य का चित्त जितना विषयों में आसक्त होता है, उतना ही यदि वह ब्रह्म में आसक्त हो जाय, तो बन्धन से मुक्ति क्यों न प्राप्त हो ?

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामाविवर्जितम् ।।६ ।।

मन दो प्रकार का है – शुद्ध और अशुद्ध । कामनाओं की इच्छा वाला मन अशुद्ध है और कामनाओं से रहित मन शुद्ध है ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासतं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।।११

मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है । विषयों में आसक्त हुआ मन ही बन्धन का कारण है और विषय रहित मन मोक्ष का कारण है ।

पंचम प्रपाठक

ब्रह्मबादी प्रश्न करते हैं कि हम किसका चिन्तन करें ? इसका उत्तर है कि हम उसका चिन्तन करें जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा देता है । बुद्धि को धी कहते हैं । ''जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है – सन्मार्ग पर चलाता है'' ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं ।

'सर्वधी साक्षी भूतम्'

द्वयोपनिषत्

गुरु शब्द के अन्दर जो 'गु' अक्षर है उसका अर्थ है अन्धकार, 'रु' अक्षर का अर्थ है उसे रोकने वाला, अतः अज्ञानरूपी अन्धकार को रोकने के कारण ही 'गुरु' कहा जाता है । गुरु ही परब्रह्म है, गुरु ही परमगति है, गुरु ही उत्तम विद्या है एवं गुरु ही वस्तुतः सर्वोत्तम धन है । गुरु ही वस्तुतः सर्वोत्तम इच्छित वस्तु है । गुरु ही परम आश्रय का स्थान है क्योंकि वह उस परम ज्ञान का उपदेश करने वाला है । इसी कारण गुरु महान् अन्धकार का नाशक है । (४–६)

अज्ञात की यात्रा में सद्गुरु पिता की तरह है और शिष्य बालक की तरह उधर ही चला जाता है जिधर सद्गुरु उसे ले चलता है । सद्गुरु इसी जीवन में दूसरा जन्म देकर द्विज बना देता है । शिष्य के लिये गुरु परमात्मा का साक्षात् स्वरूप है । जैसे स्त्री के लिये उसका पति है, उसी तरह शिष्य के लिये गुरु प्रियतम हो जाता है । सद्गुरु के मिलने से अन्य सभी सम्बन्ध उस एक में ही समाहित हो जाते है । सद्गुरु के सिवा कुछ भी अच्छा न लगे । सद्गुरु व शिष्य के मिलन में ही परमात्मा का, साक्षी का, द्रष्टा का जन्म होता है ।

वज्रसुचिक उपनिषत्

तर्हि को वा ब्राह्मणो नाम । यः कश्चिदात्मनमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षड्डूर्मिषड्भवेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्त-स्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमान-मन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावम्प्रमेयमनुभवैकवेद्य-मपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत् साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसम्पन्ने भावमात्सर्यतृष्णाऽऽशामोहरहितो शमदमादिसंपन्नो भावमात्सर्य तृष्णा शामोहदिरहतितो दम्भाहंकारदिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासाभिप्रायः ।

तब ब्राह्मण किसको कहा जाय ? जो आत्मा के द्वैत भाव से रहित हो, जाति, गुण, और क्रिया से रहित होता हो, छः ऊर्मियों और छः भावों आदि सब प्रकार के दोषों से रहित हो, सत्य ज्ञान, आनन्द, अनन्त स्वरूप, निर्विकल्प रहने वाला, अप्रमेय, अनुभव से ही जानने योग्य, अपरोक्ष, शम, दम, आदि से युक्त मात्सर्य, तृष्णा, मोह आदि से रहित दम्भ, अहंकार आदि से चित्त को सर्वथा पृथक् रखने वाला ही ब्राह्मण कहा जा सकता है । श्रुति स्मृति पुराण का यही अभिप्राय है ।

अथर्वशिरोपनिषत्

किसी समय देवगण, रूद्र लोक में जाकर भगवन् रुद्र से पूछने लगे– 'आप कौन है' ? रूद्र ने कहा – 'मैं एक हूँ, मैं भूत, वर्तमान और भविष्यकाल में हूँ '। मेरे अतिरिक्त कही कुछ भी नहीं है । जो अन्तर के अन्तर में है, जो साक्षी भाव में जाग्रत रहता है, जो सब दिशाओं में प्रविष्ट है, वह मैं हूँ । मैं ही नित्य और अनित्य हूँ, मैं ही व्यक्त और अव्यक्त हूँ, मैं ही ब्रह्म और अब्रह्म हूँ, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधो दिशारूप प्रतिदिशारूप, पुमान्, अपुमान, स्त्री मैं ही हूँ – मुझे सब में व्याप्त जानो ।

जैसे तिलों में तेल व्याप्त होकर रहता है उसी प्रकार आत्मा शान्त (अप्रत्यक्ष) रूप से सब सृष्टि में व्याप्त है, इसी से आत्मा को सर्वव्यापी कहा जाता है ।

हृदयस्थ मध्ये विश्वं देवं जातरूपं वरेण्यम् । तमात्मस्थं ये नु पश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिर्भवति नेतरेषाम् ।५।

सूक्ष्मरूप से हृदय में रहने वाले विश्वरूप, देवरूप सुन्दर और श्रेष्ठ ऐसे परमात्मा को ज्ञानी पुरुष अपने भीतर देखते हैं, वे ही शान्ति को प्राप्त करते हैं, अन्य को वह प्राप्त नहीं हो सकती ।

स्कन्दोपनिषत्

जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः ।
तुषेण बद्धो ब्रीहिः स्यात् तुषाभावेन तंडुलः ।।६।।

एवं बद्धस्तथाजीवः कर्मनाशे सदाशिवः ।
पाशबद्धस्थता जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ।।७।।

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीव केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ।१०।

जीव ही शिव है और शिव ही जीव है । यह जीव केवल शिव ही है । जैसे धान का छिलका दूर हो जाने पर चावल निकल जाता है, उसी प्रकार देह भाव का त्याग होते ही साक्षी आत्मभाव जाग्रत हो जाता है । बन्धन में पड़ा हुआ शिव ही जीव होता है और वही कर्मों का नाश होने से बन्धन से मुक्त जीव ही शिव होता है । इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि पाश (फन्दे) में पड़ा हुआ जीव मुक्त हो जाने पर सदा शिव हो जाता है । यह देह देवालय है और उसमें जीव केवल शिवरूप है । जब मनुष्य का अज्ञानरूप निर्माल्य दूर हो जाता है, तब सोऽहं भाव से उसका चिन्तन करे ।१०।

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शोचमिन्द्रियनिग्रहः ।।११

ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेवानितको भूत्वा चैकान्त द्वैतवर्जिते ।
इत्येवमाचरेद्धीमान् स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ।।१२

सबका अभेद रूप में चिन्तन करना ही ज्ञान और मन का विषयों से रहित हो जाना ही वास्तव में ध्यान है, मन के राग–द्वैष मैल का छूटना ही स्नान है और इन्द्रियों का वश में होना ही शौच है ।११। ब्रह्म ज्ञान रूपी अमृत का पान करें, देह की रक्षा के लिए भिक्षा वृत्ति करे, द्वेष भाव को त्याग कर एकांत भावना से रहे । जो बुद्धिमान व्यक्ति इस प्रकार का आचरण रखता है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है ।१२ ।

सर्वसार उपनिषत्

अत्मेश्वरोऽनात्मानां देहादीनात्मत्वे नाभिमन्यते सोऽभिमान आत्मनो बन्धस्तान्निवृत्तिर्मोक्षः ।२।

आत्मा ही ईश्वर और जीव रूप है, फिर भी जो आत्मा नहीं है ऐसे अनात्म शरीर में जीव को अहंभाव हो जाता है, वही जीव का बन्धन है । इस देह से अहंभाव का निकल जाना, यही मोक्ष है ।

या तदभिमानं कारयति या साऽविद्या, सोऽभिमानो यथाऽभिनिवर्तते सा विद्या । ३ ।

मनआदिचतुर्दशकरणैः पुष्कलैरादित्याद्यनुगृहीतैः शब्दादीन् विषयान स्थुलान्यदोपलभते तदात्मनो जागरणं, तद्वासनारहितश्रुतुर्भिः करणैः शव्दद्याभावेऽपि वासनामयाञ्शब्दादीन्यदो पलभते तदात्मनः स्बप्रम् । चतुर्दशकरणोपरमाद्विशोषविज्ञानाभावाद्यदा तदात्मनः सुषुप्तम् । अवस्थात्रयभावाद्भावसाक्षि स्वयं भावाभावरहितं नैरन्तर्यं चैक्यं यदा तदा तत्तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते ।४

सूर्य आदि देवताओं की शक्तियों के द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और दश इन्द्रियाँ–इन चौदह द्वारा जिस अवस्था में आत्मा शब्द, स्पर्श आदि स्थूल विषय ग्रहण करती है, उसे आत्मा की जाग्रत अवस्था कहते हैं, शुद्ध आदि स्थूल विषय न होने पर भी जाग्रत अवस्था की शेष रह गए वासना के कारण मन, बुद्धि आदि चौदह करणोद्वारा शब्द आदि वासनामय विषयों को जीव ग्रहण करता है, उस अवस्था को आत्मा स्वप्न अवस्था

कहा जाता है । इन चौदह इन्द्रियों का शान्त हो जाने पर, जिस अवस्था में विशेष ज्ञान नहीं होने से शब्द आदि विषयों को ग्रहण नहीं करते हैं, इस समय की आत्मा की अवस्था को सुषुप्ति कहा जाता है । इन तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति और लय का जानने वाला और स्वयं उत्पत्ति और लय से निरन्तर परे रहने वाला, ऐसा जो नित्य साक्षी चैतन्य है, वही तुरीय चैतन्य और उसकी अवस्था का नाम तुरीय है ।

ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञाता स्वयमेवमाविर्भावति-राभावरहितः स्वयंज्योतिः स साक्षित्युच्यते ।९ ।

ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणीबुद्धिष्ववि शिष्टतयोपलभ्यमानः सर्वप्राणीबुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते ।१०।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की उत्पत्ति तथा लय को जानने वाला, फिर भी स्वयं उत्पत्ति और लय से रहित आत्मा साक्षी कहलाता है । ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब प्राणियों की बुद्धि में रहने वाला और उनके स्थूल, सूक्ष्म आदि देहों का नाश होने पर जो शेष रहजाता है, वह कूटस्थ कहा जाता है ।

ब्रह्मैवाहं सर्ववेदान्तवेद्यं नाहं वेद्यं व्योमवातादिरूपम् ।
रूपं नाहं नाम नाहं न कर्म ब्रह्मैवाहं सच्चिदानन्दरूपम् ।।२०।।

नाहं देहो जन्ममृत्यू कुतो मे नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे ।
नाहं चेतः शोकमोहो कुतो मे नाहं कर्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे ।२१।

मैं उत्पन्न नहीं होता हूँ, मैं दश इन्द्रियरूप नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, मन नहीं हूँ और नित्य अहंकार भी नहीं हूँ । मैं तो सदैव बिना प्राण और मन के शुद्ध स्वरूप हूँ, बिना बुद्धि का साक्षी हूँ और भोक्ता भी नहीं हूँ, परन्तु केवल प्रकृति का साक्षी हूँ और समीपत्व के कारण देह आदि के संकेतपन का आभास होता है और वह वैसी ही क्रिया करते हैं । मैं तो स्थिर नित्य सदैव आत्मस्वरूप शुद्ध मानमय और निर्मल आत्मा हूँ और सब प्राणियों में साक्षी रूप से व्याप्त हो रहा हूँ इसमें संशय नहीं । मैं समस्त वेदान्त द्वारा जाना

गया ब्रह्म ही हूँ और मैं आकाश वायु आदि जान पड़ने वाली वस्तु नही हूँ । मैं रूप नहीं हूँ, नाम नहीं और कर्म नहीं हूँ वरन् केवल सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही हूँ । मैं देह नहीं हूँ तो फिर मूझे जन्ममरण कहाँ से हो । मैं प्राण नहीं हूँ तो फिर मुझे भूख प्यास कैसे लगे ? मैं मन नहीं हूँ तो मुझे शोक–मोह किस बात का हो ? और में कर्त्ता नहीं हूँ । तो मुझे बन्धन–मोक्ष क्यों हो ? इस प्रकार का यह रहस्य है ।

प्राणी जिसके द्वारा देखता, सुनता, सूँघता, कहता और स्वाद ग्रहण करता है, वह प्रज्ञान कहा जाता है ।

इस मनुष्य देह में ही ब्रह्मविद्या प्राप्ति का अधिकार है ।

शुकरहस्योपनिषत्

द्वितीय खण्ड

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्वबोधोऽवशिष्यते ।।१२।।

यह जीव कार्य रूप उपाधि वाला है और ब्रह्म कारणरूप उपाधि है । इस कार्य और कारणरूप 'उपाधि' का त्याग कर देने पर ज्ञान स्वरूप ही शेष रहता है ।

श्रवणं तु गुरोः पूर्व मननं तदनन्तरम् ।
निदिध्यासनमित्येत्पूर्णबोधस्य कारणम् ।१३

पूर्ण ज्ञान तभी हो सकता है जब प्रथम गुरु के द्वारा सुने । फिर मनन करे और उसके पश्चात् निदिध्यासन करे ।

अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं नश्वरं भवेत् ।
ब्रह्मविद्यापरिज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिकरं स्थितम् ।।१४

कार्य के कारणरूप उपाधि के द्वारा ही 'त्व' और 'तत्' में भेद है । उपाधि रहित होने पर दोनों एक सच्चिदानन्द ही है ।

ततो ब्रह्मपदिष्टं वै सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
जीवनमुक्तः सदा ध्यायन्नित्यस्त्वं विहरिष्यसि ।।१७।।

नदियाँ जिस प्रकार समुद्र में लय पाती है, उसी प्रकार सब कुछ इस ब्रह्म में ही लय होता है । यह स्थावर जंगम सर्व जगत् जिसमें पिरोया हुआ है वही ब्रह्म है ।

यस्मिन सर्वमिदं प्रोक्तं ब्रह्म स्थावर जङ्गमम् ।
यस्मिन्नेवलयं यान्ति स्नवन्त्यः सागरे यथा ।।१७

हे आत्मन् ! जैसे समस्त छोटी बड़ी भिन्न भिन्न दिशाओं से बहती हुई नदियाँ, अपने व्यष्टि नदी भाव का त्याग कर सागर में एकत्व को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार यह सब कुछ स्थावर–जंगम तथा यह दृश्य मान संसार ब्रह्म से ही उत्पत्ति, स्थिति तथा ब्रह्म में ही लय को प्राप्त होता है ।

निरालम्ब उपनिषत्

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।१।

यह समस्त जगत ही ब्रह्म है और इन से भिन्न कुछ भी नहीं है । अविद्या उपाधि से यह ब्रह्म ही देहाध्यास के कारण जीव संज्ञा को प्राप्त होता है । जब यह जीव देहाध्यास का त्याग कर सोऽहम् भाव को प्राप्त होता है तब यही परमात्मा रूप हो जाता है ।

परमात्मा अर्थात् देह आदि से अत्यन्त परे रहने वाला ब्रह्म ही परमात्मा कहलाता है और यही ब्रह्म, ब्रह्मा, इन्द्र, यम, सूर्य, चन्द्र, देव, असुर, पिशाच, मनुष्य, स्त्री, पशु आदि के रूप में प्रकट हुआ है, यही स्थावर और ब्राह्मण आदि है । यह समस्त जगत ही ब्रह्म है और इनसे भिन्न कुछ भी नहीं है ।

जातिरिति च । न चर्मणो न रक्तस्य न मांसस्य न चास्थिनः । न जातिरात्मनो जातिर्व्यवहारप्रकल्पिता । कर्मेति च क्रियमणेन्द्रियैः कर्माण्यहं करोमीत्यध्यात्मनिष्ठातया कृतं कर्मैव कर्म अकर्मोनिच कर्तृत्वभोक्तृत्वाहाां कारतर्या बन्धरूपं जन्मादिकारणम् । नित्यनैमित्तिक-यागव्रततपोदिनादिषु फलाभिसंधानं यत्तदकर्म । ज्ञानमिति च देहेन्द्रियानिग्रहस्तद्गुरुपासन-श्रवणमनननिदिध्यासनैर्यद्यदृग्दृश्यंस्वरूपं सर्वान्तरस्थं सर्वसमं घटपटादिपदार्थमिवाविकारं विकारेषु चैतन्यं विना किंचिन्नास्तीति साक्षात्कारनुभवो ज्ञानम् ।

जाति कुछ चमड़े की नहीं होती, रक्त की नहीं, मांस की नहीं, हड्डियों की नहीं, आत्मा की भी नहीं है । वह तो केवल व्यवहार के लिए कल्पित की गयी है । कर्म का अर्थ है इन्द्रियों द्वारा की जाने वाली क्रियायें, जिसे 'मैं करता हूँ' इस प्रकार की अध्यात्मनिष्ठा से किया गया हो, उनका नाम कर्म है, जिसका जीव फलभोक्ता होता है । कर्त्तापन और भोक्तापन के

अभिमान के कारण जीव बन्धन रूप तथा जन्म लेने के कारण ऐसा नित्य नैमित्तिक, यज्ञ, व्रत, तप, दान आदि में फल की इच्छा से किया हुआ कर्म ही 'कर्म' कहलाता है । सृष्टि की समस्त परिवर्तनशील वस्तुओं में एक ही अपरिवर्तनशील चैतन्य तत्त्व पाया जाता है, इसको ही ज्ञान कहा जाता है । एक ब्रह्म के अतिरिक्त यहाँ अन्य कुछ भी नहीं है, जो कुछ द्रष्टा और अदृश्य स्वरूप है, वह चैतन्य ही है, यह सबके भीतर रहता है ।

मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तुविचारादनित्यसंसारसुखदुःखविषयसमस्त –क्षेत्रममताबन्धक्षयो मोक्षः ।२९ ।

नित्य और अनित्य वस्तुओं का विचार द्वारा अनित्य संसार के दुःख सुखात्मक समस्त विषयों पर से ममता रूप बन्धन का नाश हो जाय, वही मोक्ष कहलाती है ।

बन्धन अर्थात् आदि रहित अज्ञान की वासना द्वारा 'मैं जन्म लेता हूँ मैं मरता हूँ' आदि जो विचार उत्पन्न होते हैं, वही बन्धन है । माँ, बाप, भाई, पत्नी, पुत्र, घर, बगीचा, खेत आदि मेरे हैं, ऐसे संसारी आवरण रूप विचार भी बन्धन रूप है ।

उपास्य इति च सर्वशरीरस्थचैतन्यब्रह्म प्रापको गुरुरुपास्यः ।

अथवा समस्त शरीरों में रहने वाले चैतन्य रूप ब्रह्म को जो प्राप्ति कराये वही गुरु उपास्य है ।

आसुरमिति च ब्रह्म विष्णवीशानेन्द्रादीना मैश्वर्यकामनया निरशन जपाग्नि होत्रादिष्वन्त रात्मनं सन्ताप यति चात्युग्र राग द्वेष विहिंसादम्भा पेक्षितंतप आश्रुरम् ।

आसुरी अर्थात् जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि के ऐश्वर्य की इच्छा रखकर उपवास, जप, अग्निहोत्र आदि में अन्तरात्मा को अत्यन्त दुःख दे और अत्यन्त उग्र, राग, द्वेष, हिंसा, दम्भ आदि दुर्गुणों वाला जो तप करे, वह आसुरी कहा जाता है ।

तप इति च ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्यपरोक्षज्ञानाग्निना ब्रह्माद्यैश्वर्याशासिद्धसंकल्पबीजसंतापं तपः ।

तप अर्थात् ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है, ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ब्रह्मादि के ऐश्वर्य सिद्ध करने के संकल्प के बीज का जला डालना ही तप कहलाता है ।

अमृतनाद उपनिषत्

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परमं ब्रह्म विज्ञायउल्कावन्नान्यथोत्सृजेत् ।१।

ज्ञानी पुरुष का कर्त्तव्य है कि विद्युत की दमक के समान इस क्षणस्थायी जीवन को व्यर्थ नष्ट न होने दे ।

त्रिशिखब्राह्मण उपनिषत्

जीवात्मनः परस्यापि यद्येवमुभयोरपि ।
अहमेव परंब्रह्माहमिति संस्थितिः ।।१६०।।
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ।
ब्रह्म संपद्यते योगी न भूयः संसृतिं व्रजेत् ।।१६१।।

जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर 'मैं ही ब्रह्म हूँ', इस स्थिति को पा लेना ही समाधि कहा जाता है । उसमें समस्त वृत्तियों का अन्त हो जाता है ।

नादबिन्दु उपनिषत्

आत्मानं सततं ज्ञात्वा कालं नय महामते ।
प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ।।२१।।

हे बुद्धिमान् पुरुष ! तुम्हें आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए सदैव चेष्टा करनी चाहिए और अपने मूल्यवान समय को उसी के चिंतन में बिताना चाहिए । जब आत्मा का ज्ञान हो जाता है, तब भी इस प्रारब्ध से छुटकारा नहीं हो पाता है । जिस प्रकार स्वप्न में दिखायी देने वाले पदार्थ सत् और स्वप्न में जागने पर असत्य जान पड़ते हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान हो जाने पर ज्ञानी की दृष्टि में प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाता है । पिछले जन्मों में किये हुए कर्मों को ही प्रारब्ध कहते हैं । ज्ञानी की दृष्टि में तो जन्मान्तर भी नहीं रहता तब उसके लिए प्रारब्ध का भी अभाव हो जाता है ।

जिस तरह मिट्टी, मिट्टी के बर्तनों का उपादान कारण होती है उसी तरह आत्मा ही इस सारे सांसारिक प्रपञ्च का उपादान कारण है ।

अज्ञानचेति वेदान्तै स्तस्मिन्नष्ट क्कं विश्वता ।
यथा रज्जु परित्यज्य सर्पं गृहणाति वै भ्रमात् ।।२६।।

तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः ।
रज्जु खण्डे परिज्ञाते सर्प रूपं न तिष्ठति ।।२७।।

अधिष्ठाने यथा ज्ञाते प्रपञ्च शून्यतां गते ।
देहस्यापि प्रपञ्चत्प्रारब्धावस्थितिः कुतः ।।२८।।

वेदान्त की दृष्टि से इस सांसारिक प्रपञ्च का आभास का कारण अज्ञान ही है । अज्ञान के समाप्त होने पर संसार की सांसारिकता नहीं रहती ।

जिस तरह भ्रम–बुद्धि से मनुष्य रस्सी को ही सर्प रूप समझने लगता है इसी प्रकार मनुष्य आत्म ज्ञान के अभाव में इस सांसारिक प्रपञ्च को भी सत्य देखता है । इस प्रकार जब आत्मा का ज्ञान हो जाता है तब इस सांसारिक प्रपञ्च का भी लय हो जाता है ।

अज्ञानजनबोधार्थं प्रारब्धमिति चोच्यते ।।२९।।

अज्ञानियों को बतलाने के लिए ही प्रारब्ध की बातें समझायी जाती है ।

तुरीयातीतोपनिषत्

अथ तुरीयातीतावधूतानां कोऽयं मार्गस्तेषां का ....।१।

अपने पिता भगवान् नारायण के पास जाकर पितामह ब्रह्म ने कहा – तुरीयातीत अवधुत का मार्ग है और उसकी स्थिति कैसी होती है ? तब भगवन् नारायण ने कहा – ‘अवधूत के मार्ग पर चलने वाला पुरुष दुर्लभ हैं, वे बहुत नहीं होते ।

विद्या पांडित्य को प्रपञ्च समझकर–धूल की तरह ही त्याग देते हैं, अपने स्वरूप को छिपाकर रखते हैं और इसलिए दिखाने के लिए छोटे–बड़े की भावना को पूर्ववत् मानते रहते हैं । इसलिए सोते नहीं (कभी असावधान नहीं होते) सदा आत्म चिन्तन परायण रहते हैं ।

आत्मपूजा उपनिषत्

ॐ तस्य निश्चिन्तनं ध्यानम् ।........ सोऽहं भावो नमस्कारः ।

उस आत्मा का निरन्तर चिन्तन ही उसका ध्यान है । ‘सोऽहं’ यह भाव ही नमस्कार है ।

योग चूड़ामण्य उपनिषत्

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।।३१

हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
षट्शतानि दिवा रात्रौ सहस्त्राण्येकविंशतिः ।। ३२

एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
अजपानामगायत्री योगिना मोक्षदा सदा ।।३३ ।।

अस्याः संकल्प मात्रेण सर्व पापैः प्रमुच्यते ।।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।।३४

अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ।

यह जीव (प्राणवायु) 'ह' कार ध्वनि से बाहर जाता है और 'स'कार ध्वनि से भीतर आता है और इस प्रकार वह सदैव हंस–हंस मन्त्र का जप करता रहता है । ३१। इस तरह एक दिन–रात्रि में जीव इक्कीस हजार छः सौ मन्त्र सदैव जपता है । ३२। इसका नाम 'अजपा गायत्री' है, जो योगियों के लिए मोक्ष प्रदायक है, इसके संकल्प मात्र से सब पापों से छुटकारा मिल जाता है । ३३। न इसके समान कोई जप है और न इसके समान कोई ज्ञान भूत या भविष्य काल में हो सकता है ।३४।

पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढ़म् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ।।४६

अपानप्राणयौरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् । ४७

एड़ी से दृढ़तापूर्वक दबाकर योनि स्थान को दृढ़ रूप से संकुचित

करे तथा अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षित करे तो यह मूलबन्ध कहलाता है । ४६। इससे अपान और प्राण–वायु एक हो जाते हैं और मूत्र तथा मल घट जाता है । जो व्यक्ति सदैव इस बन्ध का अभ्यास करता है वह वृद्ध होने पर भी युवा हो जाता है । ४७।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।५२

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्छा भेवत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। ५३

पीड्यते न च रागेण लिप्यते न स कर्मभिः ।
बाध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। ५४

जिह्वा को लौटाकर कपाल कुहर में प्रविष्ट करने और दोनों भोंहों के बीच दृष्टि स्थिर करने से खेचरी मुद्रा होती है । ५२। इसका साधन करने से न रोग, न मरण, न भूख और न क्षुधा का भय रहता है । जो खेचरी मुद्रा को जानता है उसे मूर्छा भी नहीं होती । ५३। वह रोग से कभी पीड़ित नहीं होता है और न कर्मों से लिप्त होता है । जो खेचरी को जानता है उसे कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता । ५४ ।

इन्द्रियैर्वध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते
ममत्वेन भवेज्ञीवो निर्ममत्वेन केवलः ।८४ ।

इन्द्रियाँ जीव को बन्धन में डालती हैं, वे आत्मा को नहीं बाँध सकती । यह आत्मा ही धन परिवार में ममता होने से जीव बना रहता है और दृश्य से ममता के छूट जाने पर कैवल्य स्वरूप हो जाता है। जैसे घट रहने से आकाश, घटाकाश रहता है व घट टूटने पर वही महाकाश रूप रहजाता है ।

शुचिर्वाऽप्यशुचिर्वाऽपि यो जपेत्प्रणवं सदा ।
न स लिप्यति पापेन ब्रह्मपत्रमिवाम्भासा । ८८ ।

शुद्ध अथवा अशुद्ध अवस्था में भी जो सदैव ओंकार का जाप करता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता और संसार में कमलपत्रवत् रहता है ।

महोपनिषत्

द्वितीय अध्याय

सर्वत्र विगतस्नेह यः साक्षीमदवस्थितः ।
निरिच्छो वर्तते कार्येस जीवन्मुक्त उच्यते ।।५१।।

येन धर्ममधर्म च मनोमननमोहितम ।
सर्वमन्तःपरित्यक्तं स जीवनमुक्त उच्यते ।।५२।।

यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते ।
सा येन सुष्ठु संत्यक्ता स जीवनमुक्त उच्यते ।।५३ ।।

कट्वम्ललवर्णं तक्तिममृष्टं मुष्टमेव ।
सममेव च यो भुक्ते स जीवनमुक्त उच्यते ।।५४।।

जो मोह रहित रहकर साक्षी के समान जीवन व्यतीत करता है और बिना किसी फल की कामना किये कर्म में लगा रहता है वह पुरुष जीवन्मुक्त ही है । जो पुरुष खट्टे, चटपटे, कड़वे, मीठे नमकीन आदि पदार्थों को स्वाद चिन्ता किये बिना अर्थात् स्वादिष्ट और स्वाद रहित (खराब स्वाद) वाले पदार्थों को एक समान मानकर भोजन करता है, वह जीवन्मुक्त है ।

तृतीय अध्याय

चिन्तानिचयचक्राणी नानन्दाय धनानि मे ।
संप्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदमिव ।।७।।

जिन धन रूप ऐश्वर्य के कारण चिन्ताएँ चक्कर काटती रहती है वे धन

मेरे लिए सुख देने वाले नहीं है । स्त्री, पुत्र आदि सब घोर विपत्तियों के घर है ।

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः ।
स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।१३।।

भारो विवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः ।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदां वपुः ।।१५।।

वैसे तो वृक्ष और पक्षी भी जीवित रहते हैं, परन्तु यथार्थ में वही जीवित है जो आत्म चिन्तन में लीन है । इन से भिन्न तो जरावस्था प्राप्त गधे के समान हैं जो अशक्त होते हुए भी बोझा ढोने के लिए विवश है । जो व्यक्ति आत्मज्ञान हीन हैं, उनके लिए यह देह भी बोझ ही है ।

मांसपाञ्चालिकायास्तु मन्त्रलोलेंऽगपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियः किमिव शोभनम् ।।३९।।

अस्थिपिंजर में मांस युक्त पुतली के समान स्त्री–पुरुष के देह में ऐसी कौन–सी वस्तु है, जो सुन्दर कही जा सकती है ? त्वचा, मांस, रक्त तथा अश्रु इन सब में ऐसी कौन–सी वस्तु है, जो आकर्षक प्रतीत होती हो ?

मेरुश्रृंगतटोल्लासिगंगाजलरयोपमा ।
दृष्टा यस्मिन् मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ।।४१।।

जो सुन्दर व बलवान पुरुष तथा जो मुक्ताहार से सुशोभित स्त्री जब काल के चक्र में पड़ते हैं या फंसते है, तब उनके मांस पिंड रूप जंघा, भुजा, मुख, स्तन को श्मशान में कुत्ते चाटते हैं ।

यस्व स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियंत्यक्त्वा जगत् त्यक्तं जगत् त्यक्त्वा सुखी भवेत् ।।४८।।

जिसके पास स्त्री है वह विलास की कामना में लीन रहता है, जिसके पास नहीं है, उसके लिए भोग का कोई कारण नहीं । जो स्त्री का त्याग कर सका, अर्थात् देह भाव का उसने ही संसार का त्याग कर दिया और जो संसार को त्याग देता है, वह सुखी हो सकता है । इसलिए दुःखों की यह श्रृंखला हम से दूर ही रहे ।

.... सिद्धा अपि विनश्यन्ति जीर्यन्ते दानवादयः ।।५०।।
ब्रह्मा विष्णुश्च रूद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः ।.... ५२।।

सिद्ध पुरुष भी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं । अजन्मा विष्णु और चिरस्थायी ब्रह्मा भी अन्तर्धान हो जाते हैं ।

चतुर्थ अध्याय

नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं कुर्वन् वाऽपि जगत्क्रियाम् ।
आत्मतत्त्वं विदित्वा त्वं निष्ठाक्षुब्धसमुद्रवत् ।।११।।

तुम सांसारिक कार्यों को करते हुए भी नित्य प्रबुद्ध चित्त से आत्मा के एकीभाव का ज्ञान प्राप्त कर प्रशान्त रहने वाले महान् सागर के समान निश्चल एवं दृढ़चित्त रहो । ऐसा करने से ही कल्याण सम्भव है ।

तत्त्वावबोध एवासौ वासनातृणपावकः ।
प्रोक्तं समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ।।१२।।

यह आत्म ज्ञान वासना रूप तिनके को जलाने वाले अग्नि के समान है । इसी को समाधि कहा गया है । कैवल मौन रहना ही समाधि नहीं है ।

तस्मान्नित्यमकर्ताऽहमिति भावनयेद्धया ।
परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते।।१६।।

मैं सदा अकर्त्ता हूँ, ऐसी भावना करने पर परम अमृता नाम वाली समता ही शेष रहती है ।

न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः ।
न कायक्लेशवैधुर्यान्न तीर्थायतनाश्रयाः ।
केवलं तन्मनोमात्रलये नासाद्यते पदम् । २८।।

धन, मित्र, बन्धु, पुत्र, परिजन आदि मनुष्य का उपकार नहीं कर सकते । शारीरिक क्लेश के नष्ट होने से अथवा तीर्थस्थान में वास कर लेने मात्र से ही मनुष्य लाभान्वित नहीं हो सकता, यह तो चिन्मात्र में लय होकर ही परमपद पा सकता है ।

द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ।।७२।।

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ।
कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम् ।।७५।।

'मैं वह ब्रह्म हूँ' जो ब्रह्म सदा देवताओं का भी उपास्य है, जो श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर, महान से महान, शाश्वत, कल्याणमय, परमतेजोमय, सर्वज्ञ, सनातन एवं पुराण पुरुष है । इस प्रकार की भावना ही मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ठ कारण है । यह मैं हूँ– यह मेरे हैं । यह ममता बन्धन का कारण है और ममता का परित्याग ही मोक्ष है । अहंकार तथा निरहंकारता यही दो कारण प्राणी के लिये बन्धन अथवा मुक्ति का स्वरूप है ।

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्
दुर्लभो सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ।।७७।।

सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वत भानुमन्धवत् ।।८०।।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।८२।।

विषयों का त्याग करना जितना दुर्लभ है, उतना ही दुर्लभ ज्ञान तत्त्व प्राप्त करना है। सद्गुरु की कृपा के विना सहजावस्था की प्राप्ति सम्भव नहीं है । सच्चिदानन्द के दर्शन के अभिलाषा हो तो ज्ञान के चक्षुओं से उनके दर्शन किये जा सकते हैं । जिसके पास ज्ञान के चक्षु नहीं, उस अन्धे मनुष्य को प्रकाशमान सूर्य के दर्शन न होने के समान ही परब्रह्म के दर्शन नहीं होते । वह ब्रह्म का कार्यकारण रूप है, उसका साक्षात्कार होते ही प्राणी के सब संशय दूर होते और कर्मों का क्षय हो जाता है तथा इसी से उदय ग्रन्थियाँ भी स्वयं खुल जाती है ।

एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च ।
तत्तत् संवेद्यते किंचित् तत्रास्थापरिवर्जनम् ।
अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ।।१०७।।

मन का नाश ही अविद्या का नाश होना है । मन के द्वारा जो कुछ भी अनुभव में आवे, उसमें चित्त को मत रमने दो ।

नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते ।।१२४।।

नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम् ।
इति निश्चितवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते ।।१२५।।

अपने शरीर की चिन्ता करने और सांसारिक बातों पर ध्यान देने से ही प्राणी बन्धन में पड़ जाता है, परन्तु देह की चिन्ता से मुक्त और सांसारिक बातों से परे रहने वाला प्राणी सदा मुक्त रहता है ।

जो अपने को माँस–रक्त का पुतला न मान कर उससे भिन्न आत्मा होने का भाव रखे उसके अन्तःकरण से अविद्या का क्षय हो जाता है और वही प्राणी मुक्ति को प्राप्त होता है । अनात्म पदार्थों में आत्म–भाव रहना ही अविद्या जनित कल्पना है ।

तुम अज्ञानी न बनो, अनात्म पदार्थ में आत्म भावना करके रोना ही मूर्खता है । यह जड़ देह में तुम्हारा कोई भी नहीं है । यह तो मांस पीण्ड मात्र है । घोर अपवित्र और मूक है, इसके लिए व्यर्थ ही क्यों दुःख–सुख के चक्र में पड़े हो । कितना आश्चर्य है कि लोग परम सत्य ब्रह्म को भुलाकर देह रूप जाल में फँस रहे हैं । हे मुने ! तुम ज्ञानवान् होओ । कर्तव्य कर्मों में लगकर भी मन को उन कर्मों में भी लिप्त न होने दो ।

पंचम अध्याय

पदान्तराण्यसंख्यानि प्रभवन्त्यन्यथैतयोः ।
स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम् ।।२।।

अनात्मदेह में अहंभाव ही आत्मस्वरूप से गिराने वाला है और स्वरूप में अवस्थित होने को ही मुक्ति कहा गया है ।

यः स्वरूपपरिभ्रंशश्चेत्यार्थे चिति मज्जनम् ।
एतस्मादपरो मोहो न भूतो न भविष्यति ।।४।।

स्वरूप से गिरकर वासना के पीछे जो चित्त डूबता है, उससे अधिक कोई अन्य मोह न हुआ और न कभी होगा ।

मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ।
ये तु मोहार्णवात्तीर्णास्तैः प्राप्तं परमं पदम् ।।४१।।

जैसे मृगतृष्णा में जल का भ्रम उत्पन्न होता है वैसे ही अनात्म में आत्म बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है, इसी को अविद्या कहा गया है और अविद्या नष्ट होना ही मुक्ति है ।

स्वत्ताऽहन्ताऽऽत्मता यत्र परता नास्ति काचन ।
न क्वचिद्भावकलना न भावाभावगोचरा ।।४४।।

ब्रह्मपद वह है जिससे मेरा–तेरा रूप, अपने–पराये का भेद–भाव नहीं होता ।

अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माऽहमच्युतः ।
नान्यदस्तीति संवित्त्या प्रथमा सा ह्यहंकृति ।।८९।।

सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं बालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति या संविदो ब्रह्मन् द्वितीयाऽहंकृतिः शुभा ।।९०।।

मोक्षयैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते ।।९१।।

पाणिपाददिमात्रोऽयमहनित्येष निश्चयः।
अहंकारस्मृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः ।।९२।।

वर्ज्य एव तुरात्मसौ कन्दः संसारदुस्तरोः ।
अनेनाभिहतो जन्तुरधोऽधः परिधावति ।।९३।।

अनया दुरहंकृत्या भावात् संत्यक्तया चिरम् ।
शिष्टाहंकारवन् जन्तुः शमवान् यति मुक्तताम् ।।९४।।

मैं सम्पूर्ण विश्वस्वरूप हूँ, अच्युत परमात्मा हूँ, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है– इस प्रकार का ज्ञानात्मक अहंभाव श्रेय माना गया है । मैं बाल के अग्रभाग से भी अत्यन्त सूक्ष्म हूँ और सम्पूर्ण प्रपंच से परे हूँ, इस प्रकार का

अहंकार यूक्त भाव मुक्ति देने वाला है, आत्मस्वरूप में अभिमान रखना बन्धन प्राप्त कराने वाला नहीं । जीवन्मुक्त पुरुष ही ऐसे अहंभाव से युक्त होते हैं । मैं हाथ-पाँव आदि सहित शरीर वाला हूँ, वह लौकिक अहंकार अत्यन्त तुच्छ श्रेणी का है । अहंकार से ओत प्रोत दुरात्मभाव वाला प्राणी ही संसार-वृक्ष की जड़ है । इसके द्वारा ताड़ित जीव नीचे गर्त की ओर जाता है ।

आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत् ।
पश्चात् सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत् ।।१०४।।

अज्ञस्यार्ध प्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ।।१०५।।

'जो ज्ञान रहित तथा अर्द्ध विकसित बुद्धि वाले हैं, उनके समक्ष सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा कहना उन्हें नरक रूप में ही धक्का देने के समान है । वेदान्त का उपेदश तो उसे ही देना चाहिए जिसकी भोगेच्छा नष्ट होकर बुद्धि नित्यानित्य सत्यासत्य में जाग्रत हो गयी है ।

मुने नासाद्यते तद्धि पदमक्षयमुच्यते ।
कुतो जातेयमिति ते द्विज माऽस्तु विचारणा ।।११४।।

माया की उत्पत्ति किसके द्वारा हुई, तुम्हें इसका विचार नहीं करना है । तुम्हें तो इस पर विचार करना चाहिए कि मैं इस माया को कैसे नष्ट करूँ ?

धन, स्त्री आदि सब कुछ प्रपंच है, इनकी बृद्धि दुःख का ही कारण है । जो वस्तुएँ अज्ञानी पुरुष को सुखमय प्रतीत होती है, उन्हीं वस्तुओं के प्रति ज्ञानी पुरुष विरक्त रहते हैं । इसलिए हे पुत्र ! तुम तत्त्वज्ञानी होकर जागतिक व्यवहारों में जिस-जिसका अभाव हो जाय उसकी इच्छा मत करो और जो-जो सहज प्राप्त हो, उसे ग्रहण करते रहो । अप्राप्त भोगों की इच्छा न करना और प्राप्त भोगों का उपभोग करना यही पाण्डित्य हैं । **'योगः कर्मसु कौशलम् ।'**

षष्ठ अध्याय

न तदस्ति न यत्राहं य तदस्ति न तन्मयम् ।
किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं सच्चिन्मयं ततम् ।।११।।

समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मेदमाततम् ।
अहमन्य इदं चान्यदिति भ्रान्तिं त्यजानघ ।।१२।।

हे पाप रहित निदाघ ! मैं अन्य हूँ और यह अन्य है, इस प्रकार की भ्रान्ति त्याग देने योग्य ही है । मैं आत्मा अखण्ड होने से सब देश, सब काल एवं सब रूपों में नित्य विद्यमान रहता हूँ । अतः जहाँ मैं नहीं हूँ, वह स्थान नहीं है । उस वस्तु का भी अभाव है, जो आत्मम नहीं है यह । सभी कुछ सत और चिन्मय है, तो मैं अन्य किसी वस्तु की अभिलाशा क्यों करूँ ?

संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये ।
ते रत्नमभिवांछन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः ।।२०।।

जो व्यक्ति उस शाश्वत आत्मा को छोड़कर अन्य वस्तुओं की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील है, वे अपनी हस्तगत कौस्तुभ मणि का परित्याग कर अन्य रत्न की कामना करते हैं ।

दर्शनाख्यं स्वमात्मनं सर्वथा भावयन् भव ।
स्वाद्यस्वादकसंत्यक्तं स्वाद्यस्वादकमध्यगम् ।।३७।।

आत्मा और विश्व के मध्य तथा दृश्य के मध्य भी स्वयं को दर्शन रूप आत्मा ही मानो । स्वादयुक्त पदार्थ तथा उसे चखने वाले के और इन दोनों के मध्य में स्थित केवल स्वाद का ध्यान करते हुए परमात्ममय होकर रहो ।

हे श्रेष्ठ आत्मन् ! मनुष्य चार प्रकार के निश्चय वाला है । मेरे देह की रचना माता–पिता द्वारा हुई है । यह प्रथम निश्चय मानना चाहिये । मैं जगदात्मक भावों से रहित केशाग्र से भी सूक्ष्मकार आत्मा हूँ यह दूसरे प्रकार के निश्चय है । इस निश्चय के द्वारा सन्तजनों को मुक्ति प्राप्त होती

है । 'मैं अखिल विश्व के पदार्थों का आत्मा, सर्वस्वरूप एवं अविनाशी हूँ ।' यह तीसरे प्रकार का निश्चय भी मुक्ति का कारण होता है । 'मैं और यह सम्पूर्ण विश्व आकाश के समान शून्य है ।' यह चौथा प्रकार का निश्चय भी मोक्ष सिद्धि का दाता है । इनमें प्रथम निश्चय बन्धन प्रदान करने वाली तृष्णा से ओत–प्रोत है । जो लोग शेष तीन प्रकार के निश्चयों से युक्त रहने वाले है, वे जीवनमुक्त पुरुष है । वे सब कुछ अपने को मानने वाले पुरुष फिर–फिर विषाद में नहीं पड़ते हैं । (५४–६०)

हे पुत्र ! आत्मभाव में स्थित रहकर तुम समस्त आशाओं का त्याग करतेहुए वासना शून्य होकर राग रहित और ताप रहित होकर दिखावे के रूप में सभी सांसारिक व्यवहारों को करो । बाह्य क्रोध का रूपक बनाते हुए भी भीतर से क्रोधहीन बन जाओ तथा बाहर से कर्ता परन्तु भीतर से अकर्ता बने रहो ।

अन्तर्वैराग्यमादाय बहिराशोन्मुखेरितः ।
अयं बन्धुरयं नेति कल्पना लघुचेतसाम् ।।७१।।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।
भवभावनया मुक्तं जरामरणवर्जितम् ।।७२।।

'यह मेरा बन्धु नहीं है और यह है' ऐसा विचार अल्प बुद्धि वाले करते हैं । जो लोग उदार मन वाले हैं, उनके लिए तो सम्पूर्ण संसार ही कुटुम्ब है । क्योंकि यहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त किञ्चित् भी अन्य नहीं है ।

वेदान्त–सिद्धान्त का यही एक सार है कि विषयों से मुक्त चित्त ही आत्मा है ।

पाशुपतब्रह्मउपनिषत्

स्वप्रकाशैकसंसिद्धे नास्ति माया परात्मनि ।
व्यवहारिकदृष्ट्येयं विद्याविद्या न चान्यथा ।।१८ ।।

विद्या और अविद्या के विषय व्यावहारिक है, परमात्मा से उनके सम्बन्ध नहीं है। तत्त्व के दृष्टि से यह सब मिथ्या है, केवल एक तत्त्व ही वास्तविक है ।

स्वशरीरे स्वयंज्योतिः स्वरूपं पारमार्थिकम् ।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाऽऽवृताः ।।३३।।

जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, जिनके मल, विक्षेप, आवरण, दोष क्षीण हो गये हैं, वे ही अपने भीतर स्वयं प्रकाशमान परमात्मा को मैं रूप जान सकते हैं । नाम, रूप माया में फँसे अज्ञानी साधक उस परमात्मा को सोऽहम् रूप नहीं जान सकते ।

अभक्ष्यस्य निवृत्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत् ।
आहारशुद्धो चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः ।।३६।।

आहार में अभक्ष्य का त्याग कर देने से चित्त शुद्ध हो जाता है, आहार की शुद्धि से चित्त की शुद्धि स्वयमेव हो जाती है । जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो क्रम से ज्ञान होता जाता है और अज्ञान की ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती है, पर भक्ष्याभक्ष्य का विचार उसके लिए ही आवश्यक है, जिसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना है ।

ब्रह्मविद्ग्रसति ज्ञानत्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु ।
ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्व यस्य स्यादोदनं सदा ।।३९ ।।

यस्योपसेचनं मृत्युस्तज्ज्ञानी तादृशः खलु ।
ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाज्जगद्भोज्यं भवेत्खलु ।।४० ।।

पर जो ब्रह्मज्ञानी होता है, वह सबको ब्रह्ममय देखता है, इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की भेद भावना न होना ही उसका भोजन हो जाता है । मृत्यु जिसका अन्न (भोजन) है, ऐसे ब्रह्म को जानने वाला भी वैसा ही हो जाता है और यह समस्त जगत् उसके लिए भोजन स्वरूप हो जाता है ।

स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः
अस्ति चेदस्तिता रूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम् ।।४३ ।।

इस प्रकार ब्रह्म अपने स्वरूप को स्वयं ही खाता है, क्योंकि भोज्य पदार्थ उससे पृथक् नहीं है, वैसे भी उन भोग्य पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है।

ब्रह्मविज्ञानसम्पन्नः प्रतीतमखिलं जगत्।
पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् इत्युपनिषद् ।।४६ ।।

इस प्रकार जिस ज्ञानी को ब्रह्मज्ञान का अनुभव हो, वह चाहे जगत् को अपने सम्मुख देखता हो, पर वह उसे अपने से पृथक् नहीं मानता है।

ध्यानबिन्दूपनिषत्

दीर्घघण्टानिनादवत्

घण्टा के दीर्घ निनाद के समान ओम की ध्वनी करना चाहिये ।

तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्वं न विन्दति ।

जब तक जीव ब्रह्म के प्रति सोऽहम् रूप से नहीं जान लेता है तब तक उसे जीव ब्रह्म के प्रति भेदभ्रान्ति बनी रहती है । जिसके कारण उसे भ्रमते रहना पड़ता है ।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।६१।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
शतानि षड्दिवारात्रं सहस्त्राण्येकविंशतिः । ६२।
एतत्संख्याऽन्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा । ६३।

यह प्राण 'ह' की ध्वनि द्वारा बाहर जाता है और 'स' कार से भीतर आता है । इस प्रकार जीव सदा 'हंस' 'हंस' मन्त्र का जप करता रहता है और एक दिन–रात्रि में इस जप की संख्या इक्कीस हजार छः सौ होती है । इसको अजपा गायत्री कहते हैं, यह हंस विद्या योगियों के लिए मोक्ष प्रदायिनी है ।

अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः । ६४।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् । ६५।

इस अजपा गायत्री के संकल्प मात्र से मनुष्य पापों से छूट जाता है । न तो इसके समान कोई विद्या है, न जप है, न कोई पुण्य है न हो सकता है । इसके द्वारा मनुष्य बिना कठिनाई के ब्रह्म स्थान तक पहुँच जाता है ।

भजन

एक वृक्ष पर दो है पक्षी, सदा संग वे रहते है ।
उस वृक्ष पर दो फल लगते, कोई मीठा कोई खट्टा है ।0।

उन पक्षी का स्वभाव जानो
एक देख एक खाता है ।
एक अचल है रहता संग में
दूजा वन–वन फिरता है ।१।

अचल सदा आनन्द से जीता
जो खाता दुःख पाता है ।
इसी देह पर वे दो पक्षी
एक ब्रह्म एक जीव कहाया है ।२।

कर्ता–भोक्ता जीव पक्षी है,
दूजा साक्षी बताया है ।
साक्षी अचल देखता रहता
जीव चौरासी फसाया रे ।३।

विम्ब रूप ब्रह्म को जानो
प्रतिविम्ब जीव कहाया रे
विम्ब ब्रह्म को सत्य जानो
मिथ्या जीव बताया है ।४।

विम्ब प्रतिविम्ब में भेद न मानो,
भेद में भय जनाया है ।
कहे निरंजन तत्त्वमसि यह
श्वेतकेतु को शिखाया है ।५।

भजन

हर देश में तू , हर रूप में तू
तेरे नाम अनेक तू एक ही है
हर काल में तू, हर रूप में तू
तेरे नाम अनेक तू एक ही है ।0।

हर जीव में तू, हर श्वाँस में तू
जड़ चेतन रूप में तू ही तो है ।
तू कण कण में है ऐसा रमा,
जैसे चांद सूरज में ज्योति प्रभा ।
जैसे दुध की बूंद में घृत भरा,
जैसे मेहंदी के पात में लाली रमा ।।१।

जैसे मृग की नाभी में कस्तूरी है
पर मूरख ढूढंत वन वन में
तैसे सब जीवों के तू हृदय में
पर मुरख खोजत बाहर में ।।२।।

इस मुढता से जीव भटक रहा
लख चौरासी के चक्कर में
जब तत्त्वमसी उपदेश सुना
मै जीव हूँ यह भ्रम मिटा
अरु आवागमन का चक्र मिटा ।।३।।
जैसे कारण से कभी भिन्न नहीं
होता है रूप आकारों का ।
है कहता निरंजन यह जग सारा
केवल ब्रह्म का है यह नजारा
चारों वेदों का है यह पसारा ।४।

स्वामी निरंजन ग्रंथावली

१. शान्तिपुष्प
२. भूली बिसरी स्मृति
३. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी-१
४. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी-२
५. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी-३
६. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी-४
७. मैं अमृत का सागर
८. मैं ब्रह्म हूँ
९. प्राणायाम,मुद्रा, ध्यान एवं वेदान्त पारिभाषिक शब्दकोश
१०. सीता गीता
११. राम गीता
१२. गुरु गीता
१३. पंचदशी प्रश्नोत्तर दीपिका
१४. भागवत रहस्य
१५. आत्म साक्षात्कार
१६. मन की जाने राम
१७. योग वशिष्ठ सार
१८. निरंजन भजनामृत सरिता
१९. स्वरूप चिन्तन
२०. कर्म से मोक्ष नहीं
२१. श्रद्धा की प्रतिमा सद्‌गुरु
२२. अमृत बिन्दु
२३. उपनिषद् सिद्धान्त एवं वेदान्त रत्नावली
२४. सहज समाधि
२५. ज्ञान ज्योति
२६. कबीर साखी संकलन
२७. सहज ध्यान
२८. हे राम ! उठो जागो
२९. सद्‌गुरु कौन ?
३०. श्रीराम चिन्तन
३१. तत्त्वमसि
३२. साक्षी की खोज
३३. आत्मज्ञान के हीरे मोती
३४. अनमोल वचनामृत
३५. लाख रोगों की एक दवा
३६. हंस गीता
३७. आत्मज्ञान के लिये उपयोगी चित्रावली
३८. अष्टावक्र गीता सार
३९. अष्टाबक्र महागीता
४०. आत्म गीता (भगवद् गीता सार)
४१. शिव गीता
४२. आत्म प्रबोधक संहिता
४३. ज्ञान विना मोक्ष नहीं
४४. विचार ही मार्ग
४५. केवल विस्मृति
४६. परमात्मा की सहज प्राप्ति
४७. सर्वोपनिषद गीता सार